THE BOOK WAS
DRENCHED

TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182657
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H792 R16N Accession No. P. G. H307

Author राजकुमार

Title नाटक और रंगमंच · 1961.

This book should be returned on or before the date last marked below.

नाटक और रंगमंच

की तकनीक पर

हिन्दी भाषा में

पहली पुस्तक

●

नाटक और रंगमंच

•

राजकुमार

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी : १

संस्करण : प्रथम
११००
दिसम्बर : १९६१

मूल्य : दस रुपये

प्रकाशक
ओम्प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
पो० बॉक्स न० ७०
सी. २१/३०, पिशाचमोचन
वाराणसी–१

मुद्रक
श्री कृष्णचन्द्र बेरी
विद्यामन्दिर प्रेस (प्रा.) लि.
डी. १५/२४, मानमन्दिर
वाराणसी–१

आवरण : कांजीलाल

अनुक्रम

			पृ. सं.
१. अपनी ओर से	...	...	१
२. प्रस्तावना	...	...	११
३. परियोजना	...	...	२२
४. निर्देशन	...	...	३३
५. रंगमंच	...	...	५४
६. समूहीकरण	...	...	७४
७. दृश्य-विधान	...	...	७६
८. रंगदीपन	...	...	१०५
९. अभिनय	...	...	१२०

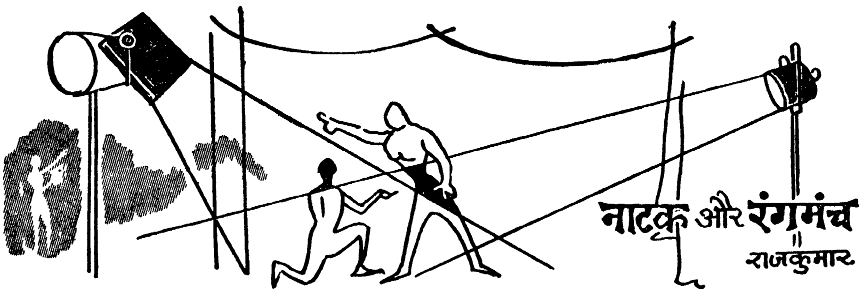
नाटक और रंगमंच
राजकुमार

अपनी ओर से

रंगमंच की लगभग तीन हजार वर्ष पुरानी परम्परा इस समय जो रूप ग्रहण कर चुकी है, उसने रंगमंच की पुरानी परिभाषा में आमूल परिवर्तन कर दिया है। पश्चिमी देशों के, जहां बीसवीं शती में बहुत तेजी के साथ रंगमंच का विकास हुआ है, नाट्य प्रेमी इस परिभाषा को हृदयंगम कर चुके हैं। सुदूर पूर्व में केवल जापान ही एक ऐसा देश है जो इस दृष्टि से पश्चिमी देशों का मुकाबला कर सकता है। किसी दृष्टि से इस क्षेत्र में जापान का अपना विशिष्ट स्थान भी है। कभी रंगमंच को उसकी देन, यूरोप के सर्वाधिक सक्षम माने जानेवाले देश जरमनी द्वारा भी अपनायी गयी थी और बाद में सारे यूरोप में उसका विकास हुआ था।

भारतीय रंगमंच की परम्परा भी यद्यपि हजारों वर्ष पुरानी हैं, तथापि आज रंगमंच के क्षेत्र में भारत सम्भवतः उस स्थान से आगे नहीं बढ़ पाया है, जहां सत्रहवीं शती में रोम अथवा अट्ठारहवीं शती में फ्रांस था। इसका कारण यह है कि प्रविधि और विज्ञान के क्षेत्र में यूरोपीय देशों में बहुत अधिक विकास हो चुका है। अन्य क्षेत्रों की भांति यहां के रंगमंच भी इनके प्रभाव से अछूते नहीं रह सके हैं। प्रावधिक ज्ञान, यांत्रिक एवं वैज्ञानिक साधनों का उपयोग यूरोपीय देशों में रंगमंच के विकास के लिए जितना अधिक हुआ है, उसकी कल्पना भी शायद हम अभी नहीं कर सकते।

यह सही है कि भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र भारतीयों की दृष्टि म अपने विषय का सबसे अधिक प्राचीन ग्रंथ है। नाटक, रंगमंच और रंगशाला के सम्बन्ध में जितनी विस्तृत और विशद व्याख्या इस ग्रंथ में पायी जाती है, उतनी दुनिया के अन्य किसी साहित्य के किसी एक ही प्राचीन ग्रंथ में नहीं पायी जाती। भरत मुनि ने छत्तीस अध्यायों में विभक्त अपने इस महान् नाट्यशास्त्र में नाट्य-सम्बन्धी सभी विषयों का

सांगोपांग विवेचन किया है। आज भी अनेक लोगों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में न केवल नाटक, वेष-भूषा, अंग-रचना, अभिनय आदि की विवेचना है, बल्कि यह भी बताया गया है कि रंगमंच कैसा होना चाहिये, प्रेक्षागार और प्रेक्षक (दर्शक) कैसा होना चाहिये। यह स्वीकार करते हुए भी मानना ही होगा कि अब केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही यह ग्रंथ अद्वितीय और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। कारण का उल्लेख आरम्भ में ही कर दिया गया है।

इस प्रसंग से इतना स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच और उसकी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में भारत का ज्ञान कितना अधिक बढ़ा हुआ था। इस दृष्टि से देखने पर आज की गतिविधि तनिक भी उत्साहवर्द्धक नहीं प्रतीत होगी; क्योंकि यहां रंगमंच के विकास की तो बात दूर रही, उसकी आवश्यकताओं की समुचित जानकारी कराने का भी कोई प्रयास नहीं किया जा रहा है। सम्भवत: यह मान लिया गया है कि नाटक अभिनीत करनेवाली संस्थाओं को कुछ आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन देते रहने से ही रंगमंच का विकास हो जायगा।

जो लोग मानते हैं कि केवल कुछ व्यवसायी संस्थाएं भी रंगमंच का विकास कर सकती हैं, अथवा अर्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रस्तुत नाट्याभिनयों से रंगमंच विकसित हो सकता है, उनके सम्बन्ध में मैं कुछ कहना नहीं चाहता। यह स्वप्न मात्र है, जो कभी मूर्त न होगा। व्यवसायी और अर्ध-सरकारी संस्थाओं की क्रियाशीलता रंगमंच के विकास में सहायक हो सकती है; किन्तु केवल ऐसी संस्थाओं द्वारा ही विकास सम्भव नहीं है। विकास तो तभी सम्भव होगा जब ऐसी संस्थाओं की क्रियाशीलता के फलस्वरूप शौकिया और अव्यवसायी संस्थाओं के कलाकारों को प्राप्त होनेवाली प्रेरणा के सदुपयोग की भी व्यवस्था होगी। इस तथ्य पर अब मतभेद नहीं रह गया है कि रंगमंच के विकास और उन्नयन में अव्यवसायी संस्थाएं व्यवसायी संस्थाओं की अपेक्षा अधिक सहायक सिद्ध हुई हैं।

निश्चय ही, यह मत उन देशों के आचार्यों का है जहां नाट्याभिनय और रंगमंच की आवश्यकताओं की शिक्षा को भी महत्त्व प्राप्त है। इस दृष्टि से हमारी स्थिति काफी लज्जाजनक है। इस विशाल देश की चार-पाँच महानगरियों को छोड़ कर शायद ही अन्य कोई ऐसी स्थान हों जहां अव्यवसायी नाट्य संस्थाएं अपने बूते पर कुछ हो, शौकिया कलाकारों के द्वारा नाट्याभिनय के लिए रंगमंच और रंगशाला हो।

कहीं, किसी जगह नाममात्र की सुविधा प्राप्त है भी, तो वहां शौकिया कलाकारों को राह दिखाने वाले आचार्यों का अभाव है। इस देश में प्रायः ऐसी ही अव्यवसायी संस्थाएं हैं जिनके सदस्य नाटक खेलने का शौक पूरा करने के लिए नाटक खेलते हैं। इनका यह शौक भी तभी पूरा होता है जब रंगमंच बनाने और उसको सजानेवाले पेशेवर संस्थान उनकी सहायता करने के लिए राजी होते हैं। ऐसे पेशेवर संस्थानों में शत-प्रतिशत न सही, पनचानबे प्रतिशत तो ऐसे ही हैं जो कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा लेकर भानुमति का कुनबा तैयार करते हैं। वह न तो यह जानते हैं कि रंगमंच किस चिड़िया का नाम है, न इनको यह पता है कि रंगमंच को किस तरह सजाना चाहिये। दो-चार-पांच प्रकार के पर्दों से यह सभी तरह के नाटकों की, वह ऐतिहासिक हो अथवा सामाजिक, पौराणिक हो या संगीत-नाटक—आवश्यकता की पूर्ति कर देते हैं। रंगमंच को सजाने का इनका ढंग भी प्रायः एक-सा ही होता है।

वेश-भूषा की आवश्यकताओं के क्षेत्र में भी, बम्बई, कलकता आदि नगरों को छोड़कर जहां फिल्म-चित्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाले व्यवसायी संस्थान कायम है, ऐसी ही अराजकता नजर आती है। जो टोप सिकंदर के माथे पर लगाने के लिए उपलब्ध होता है, वही महाराणा प्रताप के मस्तक की भी शोभा बढ़ाता है। अंग-रचना का काम किसी न किसी तरह रंग पोत कर पूर्ण कर लिया जाता है। प्रकाश-व्यवस्था का तरीका तो बिलकुल नपा-तुला है। भारत के एक-एक नगर में वह एक-सा ही नजर आयेगा। नाटक के दृश्य-विशेष की पूर्ति के लिए अपेक्षित सामान और इस सामान को रंगमंच पर सजाने की दशा भी इससे अच्छी नहीं है। कुर्सी यदि चाहिये तो रंगमंच पर कुर्सी रख दी जाती है। कुर्सी कैसी है, रंगमंच के अभिनय-स्थल के आकार के अनुपात में वह बड़ी है अथवा छोटी, दर्शक के दृष्टि-पथ में वह आती है या नहीं, वह प्रासाद के ड्राइंग रूम में रखी जानेवाली कुर्सी के समान है अथवा कर्ज के बोझ से लदे क्लर्क के कमरे की कुर्सी की भांति, यह सब देखने की न तो आवश्यकता समझी जाती है, न यह सब कोई देखता है।

अव्यवसायी संस्थाओं की संघटनगत अवस्था भी कम दुर्दशाग्रस्त नहीं है। संस्थाओं में जो व्यक्ति शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न होता है, वह खट् से 'प्रोड्यूसर' (प्रस्तुतकर्ता) बन जाता है। उसकी इच्छा सर्वोपरि होती है। जानकारी के नाम पर वह चंदा एकत्र करना, पेशेवर दूकानदारों की सहायता से रंगमंच तैयार करवा

लेना, संवाद पढ़ लेना, चिल्ला-चिल्ला कर आसमान सिर पर उठा लेना, दस-पंद्रह व्यक्तियों को बटोर लेना, समाचार-पत्रों में अपनी प्रशंसा प्रकाशित करवा लेना और प्रमुख अभिनेता के रूप में स्वयं रंगमंच पर प्रस्तुत होना ही जानता है। इस विपन्नावस्था का एकमात्र कारण यही है कि शौक तो है लेकिन जानकारी नहीं है। जानकारी उपलब्ध करने की समुचित व्यवस्था के अभाव के कारण ऐसा दुश्चक्र बन गया है कि जैसे-जैसे शौक बढ़ता जा रहा है, वैसे-वैसे रंगमंच के क्षेत्र में अराजकता भी बढ़ती जा रही है। खेद की बात तो यह है कि साहित्यकार कहे जानेवाले कुछ मानुष भी इस अराजकता को बढ़ा रहे हैं। मुझे एक घटना याद है। सन् १९५८ के अंत में वाराणसी की श्री नागरी नाटक मंडली ने अपनी स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर आयोजित नाट्य-समारोह में एक संगीत रूपक प्रस्तुत किया था जिसके पात्रों में कोई कौवा था तो कोई मुर्गा; कोई गधा था तो कोई बैल। मुखौटा-पद्धति के अनुसार पात्रों ने अपने-अपने अनुकूल मुखौटा सिर से बांध रखा था। दूसरे दिन एक साहित्यकार-पत्रकार महोदय ने समाचार-पत्र में यह विचार प्रकट किया कि 'मुखौटा पात्र के चेहरे पर लगा होता तो अच्छा था!' मुखौटा-पद्धति के नाटकों के जानकार जानते हैं कि मुखौटा प्रतीक होता है। उससे चेहरा नहीं ढका जाता। हमारे साहित्यकार महोदय का इससे क्या वास्ता! साहित्यकार थे, अतः उनको अपनी क्षमता प्रकट करनी थी। क्षमता उन्होंने प्रकट कर दी।

ऐसे दो-चार, दस-बीस, पचीस-पचास उदाहरण मैं प्रस्तुत कर सकता हूँ जिनसे रंगमंच और इससे सम्बद्ध क्षेत्र में, हमारे देश में व्याप्त घोर अराजकता स्पष्ट हो जायगी। निश्चय ही कुछ ऐसी संस्थाएं भी हैं, जो दिन-प्रति दिन आगे बढ़ती जा रही हैं। इनका विकास चमत्कारपूर्ण है। किंतु ऐसी संस्थाएं नगण्य हैं; सागर में पानी की बूँद के समान हैं।

केन्द्रीय सरकार ने 'संगीत-नाटक अकादमी' बना रखी है। कई वर्ष तक काम करते रहने के बाद भी अकादमी, रंगमंच के विकास के क्षेत्र में अपनी एक भी करामात नहीं दिखा सकी है। इसकी आकांक्षाएं और योजनाएं इतनी अधिक ऊंची है कि यहां का धूल-धूसरित रंगमंच इनको छू तक नहीं सकता।

यह दशा है हमारे देश में रंगमंच की ऐसे युग में जब रंगमंच पर चहल-कदमी करने का शुमार भी कला में हो चुका है, जब रंगमंच पर कलाकारों की भीड़ का

संयोजन भी वैज्ञानिक ढंग से अपेक्षित समझा जाने लगा है, जब रंगमंच की सजावट के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा आवश्यक समझी जाने लगी है, और जब एक-एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए पहले से खाका तैयार करने की पद्धति का चलन है । कहना न होगा कि इस दृष्टि से हमारे देश में रंगमंच का क्षेत्र अब भी अंधकार युग में पड़ा हुआ है । अत्यंत खेद की बात है कि इसको प्रकाश में लाने के लिए जिस सूझ-बूझ की आवश्यकता है, उसका सर्वथा अभाव है । पैसा खर्च न किया जा रहा हो, यह बात भी नहीं है । पैसा पर्याप्त खर्च किया जा रहा है; किंतु व्यर्थ ! जो कुछ किया जा रहा है, वह धन का दुरुपयोग मात्र है । सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब धन, नाटक और रंगमंच-विषयक शिक्षा के प्रसार में लगाया जायगा । इसके लिए स्कूलों-कालेजों की स्थापना होगी और प्राविधिक तथा वैज्ञानिक साहित्य तैयार करवा कर कम मूल्य में अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं को उपलब्ध कराया जा सकेगा ।

महाकवि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में लिखा है—"मुनियों का मत है कि नाट्य-कला केवल विनोद का साधन या कला ही नहीं है; यह ऐसा 'यज्ञ' है जो देवताओं को भी प्रिय है । स्वयं उमा ने रुद्र के साथ संयुक्त होकर इसको अपने शरीर के दो भाग (ताण्डव और लास्य) में विभक्त कर दिया है । इस यज्ञ में सत्त्व, रज और तम, यह तीनों गुण हैं । आनन्द रसों में लोक-जीवन का चरित्र दिखायी देता है । यही कारण है कि अलग-अलग रुचि और विचार के लोगों के लिए नाटक ही एकमात्र ऐसा साधन है, ऐसा आनन्ददायी उत्सव है, जहाँ एक में सब कुछ मिल जाता है ।" कालिदास की इस मान्यता का तिरस्कार करने का औद्धत्य किसी ने प्रकट नहीं किया है । सच तो यह है कि ईमानदारी के साथ अब भी हम इसको पवित्र थाती समझते हैं । इसके प्रति उदासीनता वह प्रवंचना है जिसकी उत्पत्ति राजनीतिक सत्ता को प्राप्त करने की लिप्सा तथा उस से चिपके रहने की आकांक्षा के गर्भ से उत्पन्न हुई है । साहित्य और कला में भी विकार की प्रधानता इसका प्रमाण है । आजादी की दशा में आज जो हालत हो गयी है, पराधीनता के काल में भी, कम से कम रंगमंच के क्षेत्र में वह नहीं थी । यह एक ऐसा तथ्य है जिसको ढूँढ़ने के लिए चिराग ले कर घूमने की आवश्यकता नहीं है । रासलीला और रामलीला की परम्परा में इसका दर्शन भलीभांति किया जा सकता है । मुगल शासन-काल में इसका अभ्युदय हुआ था । यह आज भी जीवित है । हां, इसके विकास में हमारा योगदान अवश्य नगण्य है । राजनीतिक क्षेत्र की विकृतियां ही इसके

भी मूल में हैं। 'खुला रंगमंच' के नाम पर जारी चिल्ल-पों के अंतर से झांकनेवाला प्रचार इसका प्रमाण है। कहा जाता है कि भारत गरीब है। यहां 'खुला रंगमंच' के विकास की गुंजाइश सर्वाधिक है। बात यहीं तक सीमित रहती तो समझा जाता कि रंगमंच के विकास के लिए भी सचमुच कुछ लोगों के हृदय में पीड़ा उठी है। लेकिन यह सीमित यहीं तक नहीं है। आगे तुर्रा यह है कि नये चीन के भाग्य-विधाता माओ-त्से तुंग ने चीन की क्रांति में खुले रंगमंच का सहारा ले कर मार्ग दिखाया है। प्रकट है कि यह कह कर रंगमंच को जहन्नुम में ढकेल दिया जाता है और राजनीतिक प्रचार को सिर पर लाद दिया जाता है। उद्देश्य रंगमंच का उपयोग और उसका विकास हो, तो मुंह से 'रामलीला' का नाम निकलेगा जो अब भी जीवित है और भारत के गांव-गाँव और नगर-नगर में फैली है।

एक ओर से अज्ञान दूर करनेवाले साधनों के अभाव और दूसरी ओर से राजनीतिक वितंडावाद ने रंगमंच के विकास का गला चांप रखा है। ऐसी स्थिति में हमारे देश में रंगमंच यदि मुंह के बल गिरा हुआ है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य तो इस पर होना चाहिये कि यह अब भी अपनी ओर निर्विकार रूप में कुछ साधकों का ध्यान आकृष्ट करते रहने में समर्थ बना हुआ है। किंतु, यह साधक कर क्या सकते हैं? इन की सारी शक्ति रंगमंच को जीवित रखने में ही लगी हुई है। इसको सशक्त कैसे बनाये यह? कैसे अलंकृत करें? जो नाटक और रंगमंच की उपादेयता स्वीकार करते हैं, वह इन प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते, क्योंकि वह जानते हैं कि रंगमंच और रंगशाला के क्षेत्र में व्यवसायी और अव्यवसायी, दोनों प्रकार के लोग हैं लेकिन महत्त्व अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के कलाकारों और कार्यकर्त्ताओं का ही है। है। सुदूर-देहातों में रंगमंच की डुग्गी यही पीटते हैं और इसको बहुसंख्यक जन-समुदाय में इन लोगों ने ही जीवित रखा है। रंगमंच के व्यावसायिक कलाकारों की क्रियाशीलता अत्यंत संकुचित क्षेत्र में सीमित है। इस स्थिति की भी मांग यही है कि सुदूर ग्रामीण अंचलों एवं छोटे-छोटे कस्बों और नगरों में रंगमंच को जीवित रखनेवाली अव्यवसायी संस्थाओं के कलाकारों-कार्यकर्ताओं को भी रंगमंच-रंगशाला-विषयक सुविधाएं प्राप्त होनी ही चाहिये, अन्यथा इस देश में रंगमंच का विकास सम्भव न होगा। नयी दिल्ली में स्थापित राष्ट्रीय नाटक स्कूल अथवा एशिया थियेटर इंस्टिट्यूट से रंगमंच के विकास की समस्या के हल को हलकी-सी हवा भी नहीं लग सकती। इस समस्या के हल का एक

मार्ग वह हो सकता है जो सोवियत रूस ने अपनाया है और जिसपर चल कर वह यूराल पर्वत माला के क्षेत्र, मध्य एशिया, यहां तक कि सामूहिक कृषि क्षेत्रों में भी रंगमंच की स्थापना कर सका है। जब तक यह सम्भव न हो तब तक के लिए अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं को इतनी सहायता पहुँचाने का प्रबंध तो होना ही चाहिये, जो न केवल नाटकों में उनकी रुचि बनाये रखने में सक्षम हो बल्कि रंगमंच की तकनीक का ज्ञान प्राप्त करने की उनकी लालसा को भी जगा सकती हो।

कारण यह है कि छोटे-छोटे नगरों और कस्बों में, देहातों और पुरवों में नाटक खेलने का शौक जिस विधि से पूरा किया जाता है, वह अवैज्ञानिक तो है ही, नाट्याभिनय के प्रति तीव्र आकर्षण पैदा कर सकने में भी असमर्थ है। इन संस्थाओं के निरीह किंतु उत्साही कार्यकर्त्ताओं को यह भी ज्ञात नहीं है कि रंगमंच पर नाट्याभिनय प्रस्तुत करने से पहले किन-किन बातों पर निश्चित रूप में ध्यान दिया ही जाना चाहिये। देहातों और पुरवों की बात छोड़िये, उत्तर भारत के वाराणसी, लखनऊ, और कानपुर (उत्तर प्रदेश) सदृश प्रमुख नगरों की अव्यवसायी नाट्य-संस्थाएं भी इस दृष्टि से इतनी अधिक पिछड़ी हुई हैं कि यदि रूस अथवा फ्रांस का नाट्यप्रेमी उनका कार्य देखे, तो उसको अपने देश के रंगमंच का सदियों पुराना इतिहास याद आ जायगा। अज्ञान के कारण यह अहम् और निराधार आत्मसंतोष के शिकार बने हुए हैं। दोष इनका नहीं है, दोष है उस व्यवस्था का, जो इनकी आंखें नहीं खुलने देती। उत्तर प्रदेश सरकार के तत्त्वावधान में एक बार हुई नाटक प्रतियोगिता में ऐसा नाटक पुरस्कृत किया गया था, जिसकी तीखी आलोचना इस देश के उद्भट् विद्वान और उत्तर प्रदेश के तात्कालिक मुख्य मंत्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने भी की थी। इस तरह की उपेक्षा की चरम सीमा तो उस समय दृष्टिगत हुई थी, जब डाक्टर सम्पूर्णानन्द की ही तीखी आलोचना का शिकार होनेवाला नाटक केन्द्रीय संगीत-नाटक अकादमी के तत्त्वावधान में आयोजित नाटक (रचना) प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुआ था। इस प्रवंचनापूर्ण स्थिति का कारण सम्भवतः यही हो सकता है कि साहित्य में कुछ हाथ रखनेवाले स्वयं को नाटक और रंगमंच का भी भाग्य-विधाता समझ बैठे हैं—जिनके कंधों पर रंगमंच के विकास में योगदान का भार सौंपा गया है, दुर्भाग्यवश वह लोग भी स्वयं-भू भाग्य-विधाताओं को ही रंगमंच और नाटक का भी भाग्य-विधाता समझते हैं। वास्तविकता यह है कि इन दोनों वर्गों के इन-गिने महानुभाव भी शायद ही रंगमंच और रंगशाला की तकनीक और

वैज्ञानिक आवश्यकताओं को जानते हों। 'नाटक के साहित्यिक महत्त्व' का भूत इनके माथे पर इस बुरी तरह सवार है जो अनर्थकारी गलत-फहमी को दूर नहीं होने देता और इनके दिमाग में यह बात धंसने नहीं देता कि शेक्सपियर और जार्ज बर्नाड शा के नाटकों के साहित्यिक मूल्य का लोहा दुनिया मान चुकी है। यही नाटक ब्रिटेन के रंगमंच में चार चांद लगाने में भी समर्थ हो चुके हैं। इनके मन में यह बात घर कर जाय तो अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की परेशानी भी कुछ हलकी हो जायगी और रंगमंच के विकास का मार्ग भी कुछ आसान हो जायगा। किंतु, सम्भवतः इसके लिए भी प्रयत्न करना होगा। सन् १९५८ की बात है, जब हिंदी के पर्याप्त-प्रसिद्ध एक नाट्यकार को मैंने रंगमंच के एक प्रेमी की इस सलाह पर कुपित होते देखा था कि "आप लोग नाटक की रचना करते समय यदि रंगमंच की सीमाओं पर भी कुछ ध्यान दें तो रंगमच के विकास-कार्य में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।" जिन्होंने ब्रिटेन के प्रसिद्ध नाट्यकार, आलोचक, प्रोड्यूसर और अभिनेता हार्ले ग्रैनविल बार्कर की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि एक्जेम्प्लरी थियेटर' पढ़ी होगी, वह उपर्युक्त नाटककार महोदय के कोप पर हंसे बिना नहीं रह सकते।

ऐसी ही हास्यास्पद घटनाएं यहां प्रतिदिन घटती हैं; नाटक-रचना के ही क्षेत्र में नहीं, अपितु रंगमंच-विषयक अन्य आवश्यकताओं के क्षेत्र में भी। इसका कारण रंगमंच-विषयक वह अज्ञान ही है, जो शैतान की आंत की तरह फैला हुआ है और जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अव्यवसायी ही नहीं, व्यवसायी संस्थाओं में भी कितने प्रतिशत ऐसे लोग होंगे जो रंगमंच पर नाट्याभिनय प्रस्तुत कराने से पूर्व इस बात पर विचार करते हैं कि नाटक-गृह अथवा दर्शक-भवन में उपस्थित प्रत्येक दर्शक को एक-एक बात नजर आनी चाहिये? इस दृष्टि से विचार करने पर घोर निराशा ही हाथ लगेगी। इसके नग्न रूप का उल्लेख न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रंगमंच और नाटक-गृह से सम्बद्ध आरम्भिक सिद्धांतों की जानकारी भी बहुत कम लोगों को है। जो जानते हैं, उनको यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि इन आरम्भिक सिद्धान्तों में सर्वप्रमुख सिद्धान्त यह है कि 'दर्शक सब कुछ देखे, सब कुछ सुने।' यह बिलकुल सामान्य बात है। ऐसी व्यवस्था करने के लिए अपेक्षित जानकारी प्राप्त करने के निमित्त किसी कालेज या स्कूल में शिक्षा ग्रहण करना भी आवश्यक नहीं है। फिर भी, इसकी ओर पेशेवर नाट्य-संस्थाओं का ध्यान भी आकृष्ट नहीं होता—शौक पूरा करने की गरज से काम करनेवालों के सम्बन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है।

साधारणतः इन बातों का उल्लेख आवश्यक नहीं था। किन्तु, व्यावहारिक जीवन में मैंने यह अनुभव किया है कि रंगमंच का उपयोग करने और इसको सजाने-संवारनेवाले यह मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि जिस कला का इतिहास तीन हजार वर्ष पुराना है, उसके सम्बन्ध में कुछ सिद्धांत तो स्थिर हो ही चुके होंगे। सुनने में यह बात भले ही कटु और अतिशयोक्ति पूर्ण लगे किन्तु है यह अक्षरशः यथार्थ। किसी भी नाट्याभिनय के अवसर पर, पर्दे के पीछे या उसकी आड़ से अभिनेता को भूला हुआ संवाद स्मरण दिलानेवाले व्यक्ति के हाथ की पुस्तक को देख कर इसका प्रमाण प्राप्त किया जा सकता है। व्यवहारतः शायद ही यह सोच कर 'प्राम्पटर' की व्यवस्था की जाती हो कि अभिनेता को भूला हुआ संवाद बताने का काम भी रंगमंच पर अभिनय करने के मुकाबले में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पश्चिमी देशों में इसका कितना अधिक महत्त्व समझा जाने लगा है, प्रस्तुत पुस्तक में यथा-स्थान इसका उल्लेख मिलेगा। यहां पर मैंने वास्तविकता की ओर संकेत करने के लिए ही इसका जिक्र किया है।

यह निर्विवाद है कि यदि रंगमंच का विकास अभीष्ट है तो अव्यवसायी और शौकिया नाट्य-संस्थाओं के संचालकों, प्रबन्धकों अथवा चुने हुए कार्यकर्त्ताओं को नाटक-गृह और रंगमंच-विषयक मोटे-मोटे सिद्धान्तों की जानकारी करायी ही जानी चाहिये। बार-बार अव्यवसायी संस्थाओं पर जोर देने का उद्देश्य समझने में भूल नहीं करनी चाहिये। यह निश्चित है कि मुट्ठी भर व्यवसायी नाट्य-संस्थाएं, नाट्यकला और रंगमंच को जीवित नहीं रख सकतीं। अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की क्रियाशीलता के अभाव में इनका विकास भी संदिग्ध ही रहता है। यह मार्के की बात भुलानी नहीं चाहिये कि कम से कम एक दृष्टि से अव्यवसायी नाट्य-संस्था की स्थिति, व्यवसायी नाट्य-संस्था की स्थिति की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधाजनक होती है। अव्यवसायी नाट्य-संस्था किसी भी नाट्याभिनय और रंगमंच की तैयारी में आसानी से दो-चार मास का समय लगा सकती है। व्यवसायी नाट्य-संस्थाओं को यह सुविधा नहीं प्राप्त होती। अव्यवसायी संस्थाएं इस सुविधा का उपयोग भलीभांति और मनोयोगपूर्वक करें तो वह व्यवसायी नाट्य संस्थाओं को कुछ न कुछ अवश्य दे सकती हैं। वास्तव में होता भी प्रायः यही है। पश्चिम के अनेक देशों में रंगमंच पर नया कौशल प्रायः अव्यवसायी संस्थाओं के द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। व्यवसायी संस्थाएं इसको अपनाती हैं और इसका विकास करती हैं। रंगमंच के विकास में यह क्रम जिस सीमा तक सहायक हुआ है, उसके

फलस्वरूप उसने वैशिष्ट्य प्राप्त कर लिया है। भारत में भी यही स्थिति उत्पन्न हो सकती है लेकिन इसके लिए घोर परिश्रम करना होगा और परिश्रम करना होगा सूझ-बूझ तथा लगन के साथ।

यह पुस्तक अव्यवसायी संस्थाओं की सीमा पर ध्यान रखते हुए ही तैयार की गयी है। इसको अधिकाधिक सुगम और सुबोध बनान का प्रयत्न भी किया गया है। प्रयत्न कहां तक सफल हुआ है, यह निर्णय अव्यवसायी नाट्य-संस्थाएं ही करेंगी। अपनी ओर से मैं यही कह सकता हूँ कि पुस्तक तनिक भी उपयोगी सिद्ध हो सकी तो मैं अपना प्रयत्न सफल समझूंगा।

अंत में मैं काशी की बावन वर्ष पुरानी अव्यवसायी नाट्य संस्था, श्री नागरी नाटक मंडली, उसके कार्यकर्ताओं एवं अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना चाहता हूँ। इस पुस्तक में जितने चित्र दिये गये हैं, प्रायः सभी मंडली द्वारा विभिन्न अवसरों पर अभिनीत नाटकों के चित्र हैं। पुस्तक में इनका उपयोग करने की अनुमति देकर मंडली ने ऐसी सहायता प्रदान की है जिसके बिना कार्य-सम्पादन बहुत दुरूह हो जाता। जिन कार्यकर्ताओं के सहयोग के बिना उपर्युक्त चित्रों का निर्माण सम्भव नहीं था, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का सर्वप्रमुख कारण यह है कि रंगमंच के क्षेत्र में मेरी उपलब्धियां वास्तव में इन कार्यकर्ताओं के स्नेह और सहयोग का ही परिणाम है। सचमुच मैं इनका बहुत आभारी हूँ।

श्री नागरी नाटक मंडली के रंगमंच पर पैर रखने के बाद इस क्षेत्र में मुझे कुछ न कुछ प्राप्त होता ही रहा है। मेरी लिए यह विद्यापीठ है। इस रूप में ही मैं इसकी वंदना करता हूँ।

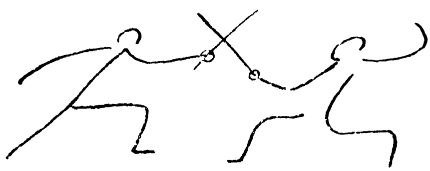

प्रस्तावना

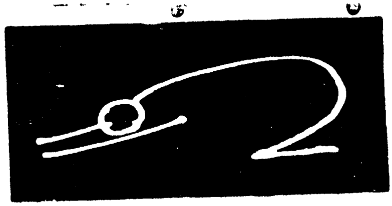

नाटक और रंगमंच का नाम लेने पर अनेक प्रकार की वस्तुएं एक साथ आँखों के सामने नाचने लगती हैं। इनकी भीड़ देख कर ही प्राय: शौकिया कलाकार, जिनके साधन सीमित हैं और जो व्यय के लिए मुश्किल से चंदे के रूप में अथवा अनुग्रह धन के रूप में कुछ रुपये एकत्र कर लेते हैं, निरुत्साहित हो जाते हैं। यह बिलकुल अस्वाभाविक नहीं है। इस समय नाटक में और रंगमंच पर जितने उपकरण काम में आते हैं, उनके समुचित उपयोग की जानकारी इनको भले ही न हो, नाम तो अधिकतर इन्होंने सुन ही रखा है। बहुत से लोग अनेक प्रकार के उपकरण इधर-उधर देख भी लेते हैं। नाटक खेलनेका शौक जागता है तो इनकी याद आ जाती है। फलत: उन को प्राप्त करने और कुछ साधन किसी प्रकार प्राप्त हो भी जाय, तो उनका उपयोग करने की समस्या इनके मानस जगत् में घूमने लगती है। इससे जो उलझन उत्पन्न हो जाती है, वह उत्साह को सहज ही ठंढा कर देती है। कभी-कभी प्रतियोगी संस्था की नाममात्र की सफलता का ज्ञान भी बाधक हो जाता है। मैंने अनेक अव्यवसायी संस्थाओं के शौकिया कलाकारों और नाट्याभिनय का आयोजन करनेवाले अधिकारियों को यह कहते सुना है कि "उनका मुकाबला हम कैसे कर सकते हैं? उनके पास अमुक साधन है। उनके अधिकारी को अमुक बात का ज्ञान है। उनको अमुक सुविधा प्राप्त है" आदि-आदि।

वास्तव में इस प्रकार का अनुत्साह अज्ञान का ही प्रतिफल है। रंगमंच के उपयोग की आकांक्षा का ही प्राबल्य हो, तो अनेक ऐसी बातें सामने नहीं आ सकतीं जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यह स्वाभाविक बात है कि मनुष्य जिस वस्तु का उपयोग करने को उत्सुक होता है, उसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त करने

की चेष्टा भी वह करता है। हमारे देश में अधिकतर नाट्य संस्थाए नाटक खेलने के लिए तो उत्सुकता प्रकट करती हैं लेकिन जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा के मामले में उनका जोश बिलकुल ठंढा रहता है। उनका सारा प्रयास सुविधाजनक नाटक को चुनने, जितने पात्रों की आवश्यकता हो, उतने पात्र एकत्र करने, पात्रों को संवाद रटाने, इस क्रम में प्रभुत्त्व किसका हो, यह निर्णय करने तक ही सीमित रह जाता है। इसके बाद निर्देशक का प्रयास आरम्भ होता है जो पात्रों को संवाद कंठस्थ कराने, उनको उछल-कूद में अभ्यस्त करने और रोब जमाने तक सीमित रहता है। राम-राम कहते किसी प्रकार इतनी मंजिल तय की जाती है। आगे की मंजिल तय करने के लिए रंगमंच तैयार करनेवाले ठीकेदार का पता लगाया जाता है (बना हुआ रंगमंच कुछ गिने-गिनाये नगरों में ही हैं; यह भी सभी संस्थाओं को उपलब्ध नहीं होता) और यदि वह खाली हुआ तो रंगमंच बनाने का भार उसको सुपुर्द कर दिया जाता है। इस काम से छुट्टी पाकर उन दूकानदारों के पास दौड़ लगायी जाती है जो रंगमंच की साज-सज्जा का सामान किराये पर देते हैं और अपने मजदूरों के द्वारा रंगमंच को सजाने का काम पूरा कराते हैं। ऐसे दूकानदार वेश-भूषा का सामान भी रखते हैं, इनकी सेवाएं जब प्राप्त हो जाती हैं, तब बिजली का सामान रखनेवाले दूकानदार का दरवाजा खटखटाया जाता है। यह सब हो जाने पर तब तक के लिए निर्देशक अथवा संचालक का काम समाप्त हो जाता है, जब तक रंगमंच बन नहीं जाता, उसकी सजावट नहीं हो जाती और बिजली नहीं लग जाती। इस कार्य में दो-तीन दिन लग जाते हैं। इस अवधि का उपयोग संचालक अथवा निर्देशक महोदय केवल यह बताने में करते हैं कि मकान के कमरे के बाद नदी तट का दृश्य चाहिये और नदी-तट के बाद खंडहर का एवं अमुक दृश्य में अमुक समय लाल रोशनी चाहिये और अमुक समय पर बिजली की चमक दिखाई पड़नी चाहिये।

रंगमंच के नाम पर लकड़ी के तख्तों का चौतरा तैयार करनेवाला ठीकेदार अपनी समझ के अनुसार चौतरा तैयार करवा देता है। उसको न तो दर्शकों की सुविधा का खयाल रहता है, न रंगमंच पर काम करनेवालों की सुविधा का। ऐसे प्रत्येक अवसर पर उसके मुंह से यह रटा-रटाया उत्तर ही मिलता है—"टेढ़ा-सीधा और ऊँचा-नीचा आप देखिये। जैसा बताइये, वैसा बनवा दें।" यह उत्तर सुनकर, संचालक या निर्देशक महोदय (जो बहुत अधिक दिलचस्पी लेते हैं) कुर्सी लगा कर सामने डट जाते हैं और किसी तरह की नाप-जोख के बिना रंगमंच का निर्माण-कार्य आरम्भ करा देते

हैं। इसकी समाप्ति के बाद रंगमंच को ढंकने और पर्दा आदि लगानेवाले की बारी आती है। वह मकान का दृश्य तैयार करना आरम्भ करता है। पार्श्व में आलीशान महल के खम्भों का दृश्य लगा देता है। ऊपर एक गंदी-सी झालर लटका देता है और पीछे किसी कमरे का सड़ा गला पर्दा। संचालक अथवा निर्देशक महोदय ठंढी साँस लेते-लेते यह सब देखते हैं। दृश्य जब बिलकुल नहीं भाता, तो डरते-डरते कहते हैं–"खम्भा महल का है और दीवारें टूटे हुए मकान की। यह तो भोंड़ा लगेगा।" पर्दा सप्लाई करने वाला उत्तर देता है––"मेरे पास जो सामान है, वह आप की सेवा में हाजिर है। इच्छानुसार आप इसका उपयोग कर सकते हैं। इससे अधिक मैं और क्या कर सकता हूँ।" निर्देशक अथवा संचालक महोदय यह उत्तर सुन कर चुप हो जाते हैं और मन ही मन में यह फैसला करते हैं कि "चलने दो। एक दिन का काम है। किसी तरह नाटक हो जाय तो जान छूटे।" कहने का अभिप्राय यह है कि अत्यधिक उत्साह के साथ जो कार्य आरम्भ किया जाता है, वह अंततः गले पड़ा ढोल बन जाता है। ऐसी दशा में परिणाम जो हो सकता है, उस की कल्पना सरलता से की जा सकती है।

यह ऐसी खामी नहीं है, सरलता से जिसका अंत न किया जा सकता हो। यह कोई श्रम-साध्य कार्य नहीं है। निष्ठापूर्वक इतना ही हृदयंगम करना पर्याप्त होगा कि रंगमंच और नाटक-गृहों की तीन हजार वर्ष पुरानी परम्परा के कारण इनके सम्बंध में कुछ आरम्भिक सिद्धांत निश्चित हो गये हैं, जिनका पालन समान रूप में ऐसे सब लोगों को करना पड़ता है जो रंगमंच का उपयोग करते हैं। इन आरम्भिक सिद्धान्तों का पालन करने का प्रयास धीरे-धीरे उस स्थान पर पहुँचा ही देता है, जहाँ से रंगमंच एवं नाट्यगृह-विषयक आवश्यकताओं का नक्शा साफ-साफ दिखाई देने लगता है।

रंगमंच के सम्बन्ध में यह बात कभी नहीं भुलायी जानी चाहिये कि महत्त्व कार्य का नहीं, बल्कि परिणाम का होता है। इसको याद रखने पर ही फूँक-फूँक कर कदम रखने की आदत डाली जा सकती है। रंगमंच के क्षेत्र में इस के बिना सफलता नहीं मिल सकती। व्यक्ति के लिए किसी एक कला में कुशलता प्राप्त करना ही कठिन होता है। रंगमंच पर अनेक कलाओं का समवेत रूप प्रस्तुत किया जाता है, अतः इस की दुरूहता की कल्पना करने में भूल नहीं करनी चाहिये। यह मानी हुई और अनुभव-सिद्ध बात है कि नाट्य-गृह में रंगमंच का उपयोग करनेवाले व्यक्ति को अनेक विषयों का आरम्भिक ज्ञान तो होना ही चाहिये अन्यथा गाड़ी आगे बढ़ ही नहीं सकती

है। यही कारण है कि नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में 'प्रस्तुत-कर्त्ता' (प्रोड्यूसर) को सर्वोच्च सत्ताधिकारी मानने की परम्परा ने निश्चित सिद्धान्त का रूप धारण कर लिया है। अब इस बात पर मतभेद नहीं रह गया है कि रंगमंच के सफल उपयोग और सफल नाट्याभिनय की दृष्टि से 'प्रस्तुत-कर्त्ता' के सर्वोपरि महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यथा-स्थान इस पर विस्तार से विचार प्रकट किया जायगा। यहाँ इतना ही बताना पर्याप्त है कि प्रोड्यूसर तैयार वस्तु का रूपकार होता है। दर्शक जो कुछ देखने और सुननेवाले हों, उससे सम्बद्ध हर तरह की तैयारी या तो प्रोड्यूसर के द्वारा की जानी चाहिये अथवा उस के द्वारा स्वीकृत होनी चाहिये।

'प्रोड्यूसिंग प्लेज़' के लेखक, विख्यात आलोचक और 'लेच वर्थ प्लेयर्स एण्ड वेलविन गार्डेन सिटी थियेटर' के संस्थापक सी. बी. परडोम के कथनानुसार इस क्षेत्र में सबसे पहला काम नाटक का चुनाव है। इसके बाद क्रमशः पात्रों के चुनाव, नियोजन, पूर्वाभ्यास का स्थान है। यह सब पूरा होने के पश्चात् रंगमंच पर नाट्याभिनय प्रस्तुत करने का समय आता है। श्री परडोम ने ब्रिटेन की परिस्थितियों पर ध्यान रखते हुए अपने विचार प्रकट किये हैं। भारत में इनको आधारभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकार करके लाभान्वित हुआ जा सकता है, लेकिन केवल इनके सहारे ही आगे नहीं बढ़ा जा सकता। रंगमंच के क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन, भारत से बहुत अधिक आगे बढ़ा हुआ है। वहाँ की अव्यवसायी संस्थाएं बहुत आगे बढ़ी हुई है और व्यवसायी संस्थाओं के मुकाबले में इनकी गति दयनीय नहीं है। वहां स्वीकार किया जाता है कि शौकिया और पेशेवर कलाकारों में जो अंतर बताया जाता है, वह कृत्रिम है। वास्तविक अंतर केवल यह है कि शौकिया कलाकार कला के प्रति अपनी आसक्ति के कारण काम करता है और पेशवर पैसा कमाने के लिए। इस अंतर के आधार पर ही वहां, शौकिया कलाकारों को अपने अज्ञान का औचित्य सिद्ध करने की छूट नहीं है। यहाँ आम तौर पर यह सुना जा सकता है कि "वह पेशेवर कलाकार है। शौकिया कलाकार उसका मुकाबला कैसे कर सकता है? वास्तव में यह तर्क नहीं किन्तु बहाना है। अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं में प्रायः दृष्टिगत होनेवाली आत्महीनता की भावना का एक कारण यह भी है। किन्तु, मूल कारण तो शिक्षा और साधनों का अभाव ही है। फिर भी, यह मानना ही होगा कि अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की वर्तमान दशा में भी, साधनों के व्यापक अभाव के बावजूद, पर्याप्त सुधार हो

सकता है । शर्त केवल यह है कि यह सही मार्ग पर लग जायं और निष्ठापूर्वक कार्य करने में अभ्यस्त हो जायं । यह कठोर साधना है, लेकिन इससे मुक्ति नहीं मिल सकती। इसके बिना यहां रंगमंच का विकास सम्भव ही नहीं हो सकता—साधन उपलब्ध हो जायं, तो भी नहीं ।

श्री परडोम के विचारों से हमारे देश की वही अव्यवसायी नाट्य-संस्थाएं लाभान्वित हो सकती हैं जो सुसंघटित हों और जिनके कार्यकर्ता और कलाकार इस बात पर विश्वास करते हों कि नाटक एवं रंगमंच के क्षेत्र में सफलता अकेले नहीं प्राप्त की जा सकती। इस के लिए अनेक व्यक्तियों के बीच प्रेमपूर्ण पारस्परिक सहयोग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है । ऐसी संस्थाएं कम हैं । अधिकतर संस्थाओं के कार्यकर्त्ता इस तरह के सामूहिक प्रयास की महत्ता से अवगत नहीं है । कारण चाहे जो भी, वास्तविकता यही है । अव्यवसायी नाट्य-संस्थाएं रंगमंच के विकास में सहायक तभी सिद्ध हो सकती हैं और तभी श्री परडोमके विचारोंसे लाभान्वित हो सकती है, जब सामूहिक प्रयास की अनिवार्यता को स्वीकार करके काम करें । अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के संचालकों और प्रबन्धकों को इस कार्य में विशेष रूप से प्रवृत्त होना चाहिये। इसके पश्चात् ही किसी एक व्यक्ति को सारा कार्यभार सुपुर्द किया जा सकता है। इस प्रकार के व्यक्ति को यह जानना ही चाहिये कि नाटक चुनने का कार्य सरल नहीं है। नाट्याभिनय के लिए चुना गया नाटक उस को तो पसंद होना ही चाहिये, उसके सहयोगियों, विशेषतः पात्रों की रुचि के अनुकूल भी होना चाहिये। इस पद्धति की उपेक्षा जहां होती हैं, वहां सामूहिक प्रयास में निष्ठा का अभाव ही रहता है । फलतः जितना सम्भव हो सकता है, कार्य उतना भी पूरा नहीं होता ।

इस बात का सम्बन्ध संस्था की सुचारु व्यवस्था को गतिशील बनाय रखने से है। जहां तक नाटक के चुनाव का प्रश्न है, इसके लिए कुछ और भी अपेक्षित है। नाटक का चुनाव करते समय पात्रों की रुचि के साथ-साथ सम्भावित दर्शकों की रुचि पर भी ध्यान रखना ही चाहिये, क्योंकि अंततः सफलता अथवा असफलता का निर्णय दर्शक ही करते हैं । नाटक पूर्णतः दार्शनिक हो और दर्शकों की श्रेणी में साधारण पढ़े-लिखे लोग ही हों, तो सफल नाट्याभिनय भी दर्शकों पर छाप नहीं डाल सकेगा । जितनी महत्त्वपूर्ण बात यह है, उतनी ही यह भी है कि जो नाटक चुना जाता है, चुननेवाली संस्था उसको अभिनीत करने की

व्यावहारिक क्षमता रखती है या नहीं। संचालक, पात्र और दर्शक की पसंद तभी काम आ सकती है जब रंगमंच पर नाटक को प्रस्तुत करने में कोई व्यावहारिक दिक्कत न हो। यहां अव्यवसायी ही नहीं, व्यवसायी संस्थाएं भी इस मामले में चूक जाती हैं।

व्यावहारिक सुविधा का जितना महत्त्व है, रुचि का भी उतना ही महत्त्व है। इस ओर ध्यान प्रायः कम रहता है। देखा गया है कि किसी नाटक की शोहरत सुन कर ही कई संस्थाओं ने उसको खेलने की तैयारी में हाथ लगा दिया। कुछ दिनों तक तो जोश बना रहा, लेकिन इसके बाद वह आपसे आप ठंढा पड़ गया; क्योंकि नाटक तैयार करनेवाले की रुचि के अनुकूल शोहरत प्राप्त नाटक नहीं था। इसलिए कहा जा सकता है कि जो नाटक, रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत कराने की तैयारी करनेवाले व्यक्ति की रुचि के अनुकूल न हो, उसमें हाथ लगाने का कोई अर्थ नहीं होता। तैयारी करने का अर्थ ही यह है कि पूरी-पूरी दिलचस्पी और सामर्थ्यके साथ काम किया जाय। इसका अर्थ यह नहीं है कि नाटक तैयार करानेवाले व्यक्ति-विशेष की रुचि पर ही संस्था पूर्णतः अवलम्बित रहे। उपर्युक्त स्थिति में वह किसी अन्य व्यक्ति को, जो जानकार हो, नाटक तैयार कराने का कार्य-भार सौंप सकती है। ऐसा करने से पूर्व यह अवश्य देख लिया जाना चाहिये कि दूसरा व्यक्ति सक्षम है या नहीं; आरम्भिक सभी बातों की जानकारी उस को है या नहीं और सब का सहयोग वह प्राप्त कर सकता है या नहीं। लब्बोलबाब यह है कि किसी पर जबरदस्ती कोई नाटक लादना नहीं चाहिये।

पात्रों की रुचि की अनुकूलता पर ध्यान रखने का कारण स्पष्ट है। जिस प्रकार अरुचिकर नाटक को तैयार कराने में 'प्रस्तुतकर्त्ता' अथवा संचालक दिलचस्पी नहीं ले सकता, उसी प्रकार पात्रों को अरुचिकर प्रतीत होनेवाला नाटक उनको आकृष्ट नहीं कर सकता। स्मरण रखना चाहिए कि रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत करनेवाले पात्रों को अपनी गलती सुधारने का अवसर नहीं मिलता। यह सुविधा फिल्म-क्षेत्र के ही कलाकारों को प्राप्त है। यही कारण है कि रंगमंच के अभिनेता का कार्य फिल्म-चित्र के अभिनेता के कार्य की अपेक्षा अधिक दुरूह माना जाता है।

दर्शकों की रुचि की महत्ता विवादास्पद है। कहा जा सकता है कि दर्शकों को निर्णायक नहीं माना जा सकता। फिर, सभी दर्शकों की रुचि भी एक-सी नहीं होती। जो नाटक चार दर्शकों को अच्छा लग सकता है, वही दस दर्शकों की अरुचिकर भी लग सकता है। तर्क ऐसा नहीं है, जो हंस कर उड़ाया जा सकता हो। किन्तु, विचार करने पर यह एकांगी प्रतीत होगा। निस्संदेह दर्शकों को न तो कभी किसी ने निर्णायक माना है, न माना जा सकता है। साथ ही, दर्शकों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती है। अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की सीमा होती है। उनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित होता है। उनको प्रोत्साहित करनेवालों की संख्या सीमित होती है। उनको सीमित क्षेत्र से ही पैसा मिलता है, सहानुभूति मिलती है। विकास के लिए प्रयत्नशील अव्यवसायी संस्था इन बातों की उपेक्षा नहीं कर सकती और यदि कोई ऐसी संस्था इनकी उपेक्षा करती है तो वह आगे नहीं बढ़ सकती है। इस पर दृष्टि रखते हुए ही दर्शकों की रुचि पर ध्यान रखने का आग्रह किया गया है। इसके औचित्य को केवल तर्क की कसौटी पर परखने की भूल खतरनाक होगी। वास्तव में इस मामले में तर्कानुमोदित पक्ष को खोजने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि यह सुविधाजनक ढंग से कार्य-सम्पादन के अन्तर्गत समन्वय का क्रम मात्र है। इसमें मौलिक कुछ भी नहीं है। भ्रम उत्पन्न होता है केवल इसलिए कि अनेक शौकिया कलाकार केवल अपनी ओर और अपनी रुचि की ओर देखना पसंद करते हैं। उनमें असामयिक आत्म-संतोष की मात्रा अधिक होती है और वह इस भ्रम-जाल में फँसे रहते हैं कि "उन्हें दर्शकों को अपना काम दिखाना है। जिस स्तर पर वह अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं, उस पर ध्यान रखते हुए दर्शकों को अभिनय का मूल्यांकन करना चाहिये।" यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि इस प्रकार सोचनेवाले शौकिया कलाकारों की दृष्टि में उनका अपना 'रोल' प्रमुख होता है और पूरा नाटक गौण। रंगमंच पर नाटक को सफल बनाने में इस तरह की प्रवृत्ति कदापि सहायक नहीं हो सकती। नाटक में अभिनय करनेवाले प्रत्येक पात्र को पूरे नाटक की सफलता पर ध्यान रखना ही चाहिये। यह होने पर दर्शक की रुचि की महत्ता के प्रति किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जायगा।

अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की ओर से अभिनीत किये जानेवाले नाटक के लिए पात्रों का चुनाव करने का काम भी कम टेढ़ा नहीं होता। इसका एक मात्र कारण यह है कि संस्था में पात्रों की संख्या सीमित हो सकती है। किसी संस्था के पास सामाजिक नाटक में काम करनेवाले अच्छे पात्र हो सकते हैं। किन्तु नाटक ऐतिहासिक

और पौराणिक भी हैं। सामाजिक नाटक में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकनेवाले पात्र ऐतिहासिक या पौराणिक नाटक की भूमिका का निर्वाह भी सफलतापूर्वक कर सकते हों, यह आवश्यक नहीं है। इस तथ्य पर ध्यान रखने से नाटकों के लिए पात्रों के चुनाव की समस्या का कठिन रूप आप से आप स्पष्ट हो जायगा। अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि उपर्युक्त स्थिति के कारण ही अनेक संस्थाएं इच्छा रहते हुए भी अनेक अच्छे नाटकों से दूर ही रह जाती हैं। जब तक रंगमंच का पर्याप्त विकास यहाँ नहीं हो जाता, तब तक यह समस्या भी बनी रहेगी। इस पर ध्यान रखते हुए ही आगे बढ़ना है। मेरा विचार है कि अव्यवसायी नाट्य-संस्था को अपने पात्रों पर ध्यान रखते हुए नाटक का चुनाव करना चाहिये। इससे अनेक ऐसी बाधाएं अनायास ही समाप्त हो जायंगी, विपरीत दशा में जिनका सामना करने के लिए बाध्य होना पड़ सकता है। इस तरह की सीमा में बंध कर कार्य करने से निरुत्साह होने की आवश्यकता नहीं है। प्रयास करने पर सहज ही ज्ञात हो जायगा कि सीमा यदि परिश्रम को बढ़ाती है तो नाटकों की अधिकाधिक प्रवृत्तियों की जानकारी भी कराती है। पात्रों पर ध्यान न रखते हुए यदि नाटक चुनना हो, तो दो-चार अच्छे नाटक पढ़ कर किसी एक को चुना जा सकता है। उपर्युक्त सीमा के अन्दर रह कर काम करने की दशा में चार नाटकों के स्थान पर सोलह नाटकों को पढ़ना भी आवश्यक हो सकता है। इससे परेशान होने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में यह सुअवसर है, जिससे लाभान्वित होने की चेष्टा की ही जानी चाहिये। इस प्रकार अपना ज्ञान बढ़ाया जा सकता है। तत्काल इसका उपयोग करने का अवसर भले ही न मिले किन्तु यह असंदिग्ध है कि इस प्रकार अर्जित ज्ञान से लाभ उठाने का अवसर कुछ समय के बाद अवश्य प्राप्त होगा।

पात्रों की सीमित संख्या केवल एक कठिनाई है। दूसरी कठिनाई इससे भी बड़ी है। एक-दूसरे के सामने काम करनेवाले पात्रों में सामञ्जस्य-स्थापन की आवश्यकता पर ध्यान देते ही, यह कठिनाई स्पष्ट हो जायगी। मान लिया जाय कि किसी संस्था के पास मुख्य भूमिका में काम कर सकने के योग्य अभिनेता भी है और अभिनेत्री भी। नाट्यकार कहता है कि मुख्य पात्र सुन्दर और सुडौल है लेकिन उसकी आवाज बहुत भारी है। इसी प्रकार मुख्य पात्री सुंदर तो है लेकिन बहुत अधिक मोटी है और उसकी आवाज बहुत महीन है। देखना होगा कि उपलब्ध अभिनेता और अभिनेत्री नाटक की आवश्यकता की पूर्ति कर सकते हैं अथवा नहीं। ऐसी दशा में प्रायः निराशा ही हाथ

लगती है । विपरीत दशा में भी यह तो देखना ही होगा कि एक-दूसरे के सामने काम करने वाले पात्र ध्वनि, व्यवहार, अभिनग-कौशल और चाल-ढाल आदि की दृष्टि से एक-दूसरे को संतुलित करते हैं या नहीं । इस आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

सामाजिक नाटक के पात्रों के चुनाव की अपेक्षा पौराणिक या ऐतिहासिक नाटक के पात्रों के चुनाव का कार्य अधिक कठिन होता है । पौराणिक या ऐतिहासिक नाटक के अनेक पात्रों का चुनाव करते समय दर्शकों की संस्कार-बद्ध भावना पर भी ध्यान रखना पड़ता है । किसी सामाजिक नाटक के सेठ का काम दुबले या मोटे, दोनों प्रकार के अभिनेताओं से लिया जा सकता है लेकिन पौराणिक नाटक के भीम अथवा ऐतिहासिक नाटक के महाराणा प्रताप का अभिनय करनेवाले पात्र का चुनाव करते समय ऐसी मनमानी नहीं की जा सकती । भीम के शरीर के सम्बन्ध में लोगों के दिमाग में एक चित्र धंसा हुआ है, जो बताता है कि भीम के शरीर में दस सहस्र हाथियों का बल था । महाराणा प्रताप का नाम लेते ही उन्नत ललाट और प्रशस्त वक्ष:स्थल वाले लम्बे-चौड़े व्यक्ति का चित्र आंखों के सामने नाचने लगता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नाटक के सेठ का अभिनय करनेवाले पात्र का चुनाव करने में जितनी आजादी से काम लिया जा सकता है, भीम अथवा महाराणा प्रताप का अभिनय करनेवाले पात्र के चुनाव में उतनी आजादी नहीं मिल सकती ।

यह तो हुई बात उपयुक्त पात्र के चुनाव की । किन्तु काम केवल यह समझने से ही नहीं चलेगा कि ऐसा पात्र चाहिये । 'ऐसा पात्र' कौन है अथवा कौन हो सकता है, यह समझना भी उतना ही आवश्यक है जितना यह समझना कि पात्र कैसा चाहिये । वांछित पात्र को ढूंढ़ने के लिए प्राय: अनुमान से काम लिया जाता है । यह विधि उपयुक्त नहीं है । अनुमान का सहारा वहां लिया जाना चाहिये जहां और कोई उपाय न हो । वांछित पात्र की परख के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि अनुमान से काम लेने के अतिरिक्त और कोई अन्य उपाय है ही नहीं ।

रंगमंच के एक अमेरिकी विशेषज्ञ श्री हेनिग नेम्स (Henning Nelms) ने अपनी पुस्तक 'प्ले प्रोडक्शन' (Play Production) में इस विषय पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला है । रूस के जगत्-प्रसिद्ध रंगमंच और रंगशाला-विशेषज्ञ स्टांस्लावेस्की ने, जिनके नाम पर पश्चिम के रंगमंच-क्षेत्र में एक विशेष पद्धति चल

पड़ी है, इस विषय पर व्यापक रूप में विचार प्रकट किये हैं। इन महानुभावों के परामर्श से काफी हद तक लाभ उठाया जा सकता है।

हेनिंग नेम्स का मत है कि पात्र का चुनाव दर्शकों के लाभ की दृष्टि से होना चाहिए, न कि पात्र को प्रसन्न रखने अथवा उसको पुरस्कृत करने के लिए। भलीभांति विचार करने के बाद इस मत से सहसा असहमति नहीं प्रकट की जा सकती। पहले ब्रिटिश विशेषज्ञ श्री सी. बी. परडोम के नाम का उल्लेख किया जा चुका है। उनका भी यह मत है कि किसी पात्र को कोई भूमिका केवल इसलिए नहीं सुपुर्द की जानी चाहिये; क्योंकि इस भूमिका को वह अदा करना चाहता है अथवा इसको ग्रहण करने के लिए उत्सुक है या ऐसी भूमिका का निर्वाह उसने पहले कभी सफलतापूर्वक किया था।

वांछित पात्र का चुनाव करनेवाले व्यक्ति को इससे सम्बन्धित कुछ आधारभूत बातों का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। भूमिका-विशेष के लिए पात्र की उपयुक्तता, अभिनय की दृष्टि से उसकी तकनिकी काबिलियत से अधिक स्वतः उसकी अपनी उपयुक्तता पर आधारित होती है। इसको समझने के लिए दो बातों पर ध्यान रखना चाहिये। पहली बात तो यह है कि पात्र-विशेष का जो व्यक्तित्व साधारणतः नजर आता है, रंगमंच पर भी वही दृष्टिगत हो सकता है या रंगमंच पर उसका व्यक्तित्व सर्वथा भिन्न भी हो सकता है। दूसरी बात यह है कि पात्र-विशेष का व्यक्तित्व अलग-अलग भूमिका में भिन्न-भिन्न रूप में नजर आ सकता है। अतः केवल साधारणतः नजर आनेवाले व्यक्तित्व के आधार पर किया गया निर्णय गलत भी हो सकता है। वास्तव में ये बातें गौण हैं। महत्त्व तो दर्शकों की उस प्रतिक्रिया का होता है जो अभिनेता भूमिका-विशेष में दर्शकों में उत्पन्न करता है। इस तरह की प्रतिक्रिया का आभास प्राप्त कर लेना परिश्रम-साध्य अवश्य है। इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि अभिनेता से नाटक के जिस पात्र का कार्य लेना हो, उस पात्र का संवाद उसको भली-भांति पढ़ा दिया जाय——समझा दिया जाय। इसके पश्चात् निर्देशक अपने अन्य सहयोगियों तथा संस्था के कार्यकर्त्ताओं के साथ दर्शक-स्थल पर बैठ कर अभिनेता का अभिनय देखने के उपरांत मंतव्य स्थिर कर सकता है। दर्शकों के स्थान पर केवल स्वयं ही उपस्थित रह कर निर्णय करनेवाला निर्देशक न तो अपने साथ न्याय करता है, न अभिनेता के साथ। उसको इस कार्य में भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्तिवाले सहयोगियों

का सहयोग प्राप्त करना ही चाहिये। दर्शकों की प्रतिक्रिया का अभिप्राय किसी एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया नहीं है। एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया का रूप दर्शकों की प्रतिक्रिया के सामूहिक रूप से सर्वथा भिन्न भी हो सकता है।

इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य अंतिम बात यह है कि पात्रों के चुनाव के मामले में निर्देशक को पहले ही अपना मत नहीं प्रकट करना चाहिये। सर्वोत्तम उपाय यह है कि पात्रों को एकत्र करके चुने हुए दृश्य उनको भली-भांति समझा दें। इसके बाद प्रत्येक पात्र को यह छूट होनी चाहिए कि वह इच्छानुसार कार्य चुन ले और अभिनय प्रस्तुत करे। पात्रों की प्रतिभा का परिचय प्राप्त करने के बाद निर्देशक सुविधानुसार परिवर्तन कर सकता है। इस क्रम में ऐसा भी हो सकता है कि कई पात्रों के द्वारा एक ही भूमिका का निर्वाह समान रूप में सम्भव प्रतीत हो। ऐसी दशा के उत्पन्न होने पर भी निर्देशक को चाहिये कि वह पात्रों का मुंह देख कर निर्णय न करे। पुनः उसको नाटक के कुछ अधिक कठिन स्थल चुनकर पात्रों के (एक ही भूमिका के) सामने रखने चाहिये। इस बार वह पात्रों को कुछ हिदायत भी दे और इस बात पर दृष्टि रखते हुए उनकी परीक्षा ले कि हिदायतों को ग्रहण करने की अधिक क्षमता किस पात्र में है। जिस पात्र में क्षमता अधिक दिखाई दे, अंतिम रूप में उसको ही चुनना चाहिये। इस विधि से पात्रों का चुनाव पूर्वाभ्यास के कार्य को बहुत सरल बना देगा।

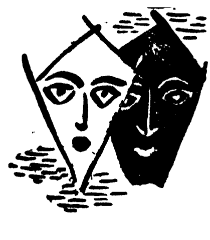

परियोजना

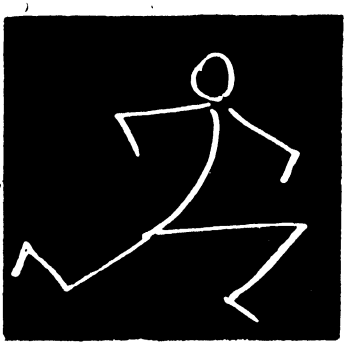

नाटक के प्रस्तुतकर्त्ता, संचालक अथवा निर्देशक का उत्तरदायित्व बहुत गहन होता है । इस उत्तरदायित्व के दो पहलू हैं। इन पर ध्यान दिये बिना न तो कोई 'प्रस्तुतकर्त्ता' हो सकता है, न समझा जा सकता है ।

जो प्रस्तुतकर्त्ता हो, उसको सदा यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि स्वयं वाहवाही लूटने के लिए उसको परिश्रम नहीं करना है। उसका कर्त्तव्य है नाटक को सफल बनाना और यह देखना कि नाटक प्रशंसित होता है । इस मूल बात पर ध्यान न रखनेवाला प्रस्तुतकर्ता, (जहां प्रस्तुतकर्ता न हो, वहां निर्देशक) नाटक को सफलता-पूर्वक रंगमंच पर प्रस्तुत करने की पूरी और स्पष्ट योजना तैयार ही नहीं कर सकता । कारण स्पष्ट है । पूरी योजना तैयार करने के बाद उसको रंगमंच पर दृश्य का संयोजन करनेवाले व्यक्ति का, रूप-विन्यास का कार्य सम्पन्न करनेवाले का, प्रकाश-व्यवस्था नियोजित करनेवाले का, संगीत निर्देशक का, ध्वनि-नियंत्रक और प्राम्पटर का, पर्दा उठाने तथा 'सेट' को हटाने-बढ़ाने वाले कार्यकर्त्ताओं का, नाटक में प्रयुक्त होनेवाली विविध वस्तुओं के संग्राहक का, पोशाक-प्रबंधक का, यहां तक की मिस्त्री और कुली तक का सहयोग प्राप्त करना होगा । इससे कार्य की दुरूहता, जिम्मेदारी की गहनता और कार्य-क्षेत्र की व्यापकता का अनुमान भलीभांति किया जा सकता है। अहम् से पृथक् रह कर प्रत्येक सहयोगी को संतुष्ट रखने एवं कार्य के सम्पादन का पूरा अवसर देने की चेष्टा करते हुए ही यह दुर्वह भार उठाया जा सकता है । इस ओर से उदासीन रहने

अथवा इसकी उपेक्षा करने पर सफलता हाथ नहीं लगती—कुशल और विज्ञ पात्रों के मिल जाने के बाद भी नहीं।

नाटक की परियोजना को प्रस्तुत करना, रंगमंच के क्षेत्र में सम्भवतः सबसे अधिक दुरूह कार्य है। योजना तैयार करनेवाले व्यक्ति को सब कुछ भुला देना चाहिये। याद रहना चाहिये उसको केवल नाटक और नाटक की आवश्यकताएं। नाटक को आत्मसात् किये बिना यह सम्भव नहीं है। नाटक को आत्मसात् करने के लिए यह आवश्यक है कि सारी रचना दिमाग में ही न बैठायी जाय। एक-एक बात कागज पर उतार ली जानी चाहिये; तभी यह ज्ञात हो सकेगा कि पूरा खाका तैयार हुआ या नहीं और कहीं, किसी स्थान पर कुछ भरना रह तो नहीं गया।

परियोजन का काम नाटक को दिमाग में बैठाने से शुरू करना चाहिए। नाटक दिमाग में बैठ जायगा, तो यह समझना आसान हो जायगा कि नाटक का चरमोत्कर्ष किस दृश्य में कहाँ पर है। इसका ज्ञान उपलब्ध करना नितांत आवश्यक है; क्योंकि इसके अभाव में नाट्यकार का उद्देश्य और उसकी आकांक्षा समझ में नहीं आ सकती। यह साधारण समझ की बात है कि नाटक की आत्मा से साक्षात्कार किये बगैर रंगमंच पर उसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता और उस वातावरण की सृष्टि नहीं की जा सकती, जो नाट्यकार द्वारा कल्पित होता है।

स्मरण रखना होगा कि रंगमंच पर उचित वातावरण की सृष्टि जितनी उपयुक्त अभिनय पर अवलम्बित होती है, उतनी ही दृश्य पर भी। अतः यह आवश्यक है कि नाटक को पूरी तरह समझने के पश्चात् उसके एक-एक दृश्य का खाका तैयार किया जाय। पाश्चात्य देशों में इसका महत्त्व बहुत आगे बढ़ चुका है। वहां दृश्य का डिजाइन विशेषज्ञ तैयार करते हैं। जिन अव्यवसायी संस्थाओं को विशेषज्ञ नहीं मिलते, वे भी डिजाइन बनानेवालों से ही काम लेती हैं। अस्तु, प्रत्येक दृश्य का डिजाइन तैयार करने के बाद देखना यह होगा कि रंगमंच पर उसका संयोजन किस प्रकार हो सकता है। प्रस्तुतकर्ता अथवा निर्देशक के लिए यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुंचने से पहले वह उस व्यक्ति से परामर्श कर ले जिसको रंगमंच पर दृश्य-संयोजन का कार्य सुपुर्द किया जानेवाला हो। इस ओर से असावधान रहने पर मेहनत बेकार भी हो सकती है।

तीसरा कार्य है, पोशाकों की सूची तैयार करना। जहां तक सम्भव हो, पोशाक की सूची तैयार करने से पहले यह समझ लेना चाहिये कि किस-किस प्रकार की पोशाक चाहिये और पोशाक उपलब्ध कहां से हो सकती है। इसके बाद नाटक में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों यथा—छड़ी, छाता, मेज, कुर्सी, दर्पण, तलवार, बंदूक आदि की सूची तैयार करनी होगी। नाटक की सफलता की दृष्टि से यह काम जितना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही हमारे यहां इसकी उपेक्षा होती है—विशेषतः अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के द्वारा। छोटी-सी वस्तु को, जो सरलता से प्राप्त की जा सकती है, एकत्र करने में सावधानी से काम नहीं लिया जाता। परिणाम यह होता है कि कहीं खूबसूरत पतली छड़ी की जगह मोटा डंडा हाथ में थमा दिया जाता है, कहीं पलंग के स्थान पर चौकी रख दी जाती है। थोड़ा-सा विचार करने पर ही ज्ञात हो जायगा कि इस तरह की मनमानी का नितान्त प्रतिकूल प्रभाव नाटक पर पड़ता है। मान लिया जाय कि एक बहुत बड़ा आधुनिक सेठ आराम करने के लिए अपने शयन-कक्ष में प्रवेश करता है। रंगमंच पर शयन-कक्ष के इस दृश्य में खूबसूरत और बढ़िया पलंग होना ही चाहिये। इसके स्थान पर यदि चौकी पर बिस्तर लगा होगा तो वह चेहरे पर चेचक की दाग की तरह ही नजर आयेगा जो सारे वातावरण को नष्ट कर देगा। दूसरा उदाहरण देखिये। सन् १९६० में वाराणसी की बावन वर्ष पुरानी अव्यवसायी नाट्य संस्था श्री नागरी नाटक मंडली के रंगमंच पर मेरा अपना नाटक 'ज्वार-भाटा' अभिनीत किया गया था। इस नाटक में खल पात्र एक आधुनिक नेता है। जिस पात्र ने नेता का अभिनय किया था, उसने अपनी भूमिका का निर्वाह काफी अच्छी तरह किया था, किन्तु पोशाक के मामले में मनमानी कर डाली थी जिसके कारण उसकी सारी मेहनत पर पानी फिर गया था। एक दृश्य में, जहां 'क्लाइ-मेक्स' था, उनको धोती-कुर्ता पहन कर रंगमंच पर आना चाहिये था किंतु रंगमंच पर गये आप सूट पहन कर। परिणामतः दर्शकों में भ्रम उत्पन्न हो गया और उनमें से अनेक यह समझ ही नहीं सके कि खलनायक नेता था अथवा कोई भ्रष्टाचारी सरकारी अफसर।

रंगमंच के किसी भी कार्य में लापरवाही क्षम्य नहीं हो सकती। अतः यह आवश्यक है कि जितनी सतर्कता पात्रों के चुनाव अथवा दृश्य-संयोजन आदि में दिखाई जाय, उतनी ही सतर्कता नाटक में प्रयुक्त होनेवाली छोटी-से छोटी वस्तु का संग्रह करने में भी दिखाई जाय।

इतना काम पूरा करने के पश्चात् प्रस्तुतकर्त्ता द्वारा प्रकाश की

व्यवस्था की ओर ध्यान दिया जाना चाहिये । इस समय रंगमंच पर प्रकाश का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है । इसका चमत्कार गिरते हुए नाटक को उठाने और उठे हुए नाटक में चार चांद लगाने में सफल हो जाता है ।

प्रस्तुतकर्त्ता को यह जानना जरूरी नहीं है कि कहां कैसा लट्टू (बल्ब) लगाया जाना चाहिये अथवा किस जगह कैसी बत्ती अपेक्षित प्रकाश दे सकती है । यह कार्य बिजली मिस्त्री अथवा प्रकाश की व्यवस्था करनेवाले का है । प्रस्तुतकर्त्ता को अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित करना होगा कि किस दृश्य में किस तरह का प्रकाश होना चाहिये, कहां रात नजर आनी चाहिये और कहां दिन का समय परिलक्षित होना चाहिये, किस दृश्य में चांद और तारे नजर आने चाहिये और किस दृश्य में रंगमंच पर केवल पात्र को ही दिखाई देना चाहिये, आदि-आदि । प्रस्तुतकर्त्ता यदि इसका स्पष्ट और विस्तृत विवरण तैयार नहीं करेगा तो बिजली मिस्त्री कुछ नहीं कर सकेगा । परिणामतः रंगमंच पर समय की दृष्टि से सभी दृश्य एक से नजर आयेंगे । यहां अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत किये जानेवाले नाटकों में यह त्रुटि प्रायः दिखाई देती है । इससे न केवल वातावरण विकृत होता है, बल्कि नाटक के उतार-चढ़ाव पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ।

मैं मानता हूं कि प्रकाश की समुचित व्यवस्था का प्रश्न बहुत टेढ़ा है । हमारे देश की अव्यवसायी नाट्य-संस्थाएं ही नहीं, बल्कि व्यवसायी संस्थाएं भी इस दृष्टि से बहुत पिछड़ी हुई हैं । इसका कारण शायद यही है कि रंगमंच पर प्रयुक्त होनेवाले विद्युत् उपकरण बहुत कीमती होते हैं । मुश्किल तो यह है कि यह किराये पर भी उपलब्ध नहीं होते । बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और दिल्ली के अलावा इस विशाल देश के और किसी भी बड़े नगर में रंगमंच पर प्रयुक्त होनेवाले साधारण विद्युत् उपकरण भी शायद ही मिल सकें । इस कठिनाई से अवगत होते हुए भी मैंने प्रकाश-व्यवस्था का विवरण तैयार करने की आवश्यकता पर जोर केवल इसलिए दिया है कि जहां तक सम्भव हो, वहां तक कार्य करने में त्रुटि न रह जाय ।

इतनी दूर तक जाने के बाद भी परियोजन-कार्य समाप्त नहीं होता । जिसके पास केवल डेढ़ हजार रुपये ही होंगे, वह डेढ़ लाख रुपये की योजना बनाकर करेगा भी क्या ? यह पहले ही कहा जा चुका है कि अधिकतर अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय है । सच तो यह है कि अर्थ की दृष्टि से इनका कोई अस्तित्व

है ही नहीं । ऐसी दशा में अव्यवसायी नाट्य-संस्था की ओर से रंगमंच पर नाटक प्रस्तुत कराने की तैयारी करनेवाले व्यक्ति की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है । इस बढ़ी हुई जिम्मेदारी का निर्वाह करने के लिए सारी योजना तैयार करने के पश्चात् इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि जितना धन अपेक्षित है, उतना गांठ में नहीं है तो उपलब्ध धन का समुचित उपयोग कैसे किया जा सकता है । ऐसी स्थिति में कार्यों का वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है ताकि यह समझा जा सके कि किस कार्य को व्यय की दृष्टि से वरीयता दी जानी चाहिये । इससे निश्चय ही कार्य कुछ सुविधाजनक हो जायगा और अपव्यय की सम्भावना भी नहीं रहेगी ।

उपलब्ध धन और सम्भावित व्यय पर ध्यान न देने पर अन्य अनेक अकल्पित कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ सकता है । मान लिया जाय कि रंगमंच पर जो नाटक प्रस्तुत किया जानेवाला है, उसके एक दृश्य में एक बार कम से कम तीस पात्र एक साथ रंगमंच पर नजर आते हैं । इस नाटक के लिए तैयार की गयी वह योजना अधूरी ही होगी जिसमें उपलब्ध रंगमंच के स्थान पर ध्यान रखते हुए उपर्युक्त दृश्य की आवश्यकता पर भी विचार न किया गया होगा । उपलब्ध रंगमंच छोटा हो तो उस पर तीस पात्र एक साथ नहीं लाये जा सकते । कामचलाऊ रंगमंच बनाना हो तो पहले से नक्शा तैयार रहना ही चाहिये ताकि समय पर स्थान का अभाव बाधक न हो जाय । उपलब्ध रंगमंच से ही काम चलाना अनिवार्य होने पर पात्रों की संख्या कम करने की गुंजाइश निकाली जा सकती है । किंतु यह तभी सम्भव होगा जब उपर्युक्त विधि से काम किया जायगा । विपरीत स्थिति में ऐन वक्त पर अपरिहार्य कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है । ऐसी दशा में नाटक की जैसी दुर्दशा हो सकती है, उसके सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक नहीं है । उसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है ।

यही बात नाटक के लिए अपेक्षित सेट और पर्दों के बारे में भी कही जा सकती है । नाटक की योजना तैयार करते समय इन सभी बातों पर भलीभांति ध्यान दिया ही जाना चाहिये अन्यथा गुड़ भी गोबर हो सकता है ।

परियोजना के प्रत्येक कार्य का निरीक्षण भी पर्याप्त सावधानी से किया जाना चाहिये । यह जरूरी नहीं है कि नक्शा दे देने पर मिस्त्री उसके अनुरूप सामान तैयार कर ही दे । कारण, नाटक का सामान विशेष पद्धति से तैयार किया जाता है । बहुत बड़ा फ्लैट, मिस्त्री यदि केवल एक टुकड़े में बना देगा तो रंगमंच पर उसका

उपयोग नहीं हो सकगा । पृथक् अध्याय में विस्तार से इस पर विचार प्रकट किया गया है । यहां केवल यह बताना ही पर्याप्त है कि समुचित निरीक्षण के अभाव में नाटक प्रस्तुत कराने की तैयारी करनेवाले की काफी मेहनत पर पानी फिर सकता है । यहीं इस कथन की यथार्थता भी सिद्ध हो जाती है कि जो व्यक्ति नाटक को प्रस्तुत करने की जिम्मेदारी ले, उसको उन सभी कार्यों से जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, सम्बद्ध आरम्भिक जानकारी होनी ही चाहिये, अन्यथा वह अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह भलीभांति न कर सकेगा ।

परियोजना की कार्यान्विति सामूहिक प्रयास पर अवलम्बित है । कोई एक ही व्यक्ति, वह चाहे जितना भी अधिक योग्य और पटु हो, सब कार्य एक साथ सम्पन्न नहीं करा सकता । इस तरह का प्रयास किसी को करना भी नहीं चाहिये । प्रस्तुत-कर्त्ता का यह कर्त्तव्य है कि वह कार्य-विशेष के लिए नियुक्त व्यक्ति से वही कार्य ले । इसी प्रकार उसके सभी सहयोगियों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे प्रस्तुतकर्त्ता की योजना के अनुसार कार्य पूरा करें ।

सहयोगी कितने हों और उनका संघटन किस प्रकार का हो, यह विचारणीय है । इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किये हैं । यहां की अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं की क्षमता की दृष्टि से ऐसे प्रत्येक विशेषज्ञ की संघटन-विषयक रचना न केवल लम्बी-चौड़ी वल्कि अव्यावहारिक भी प्रतीत होगी । यहाँ संस्थाएं छोटी-छोटी हैं । उनके साधन सीमित हैं । प्रायः उनके पास कार्यकर्त्ता भी अपेक्षित संख्या में नहीं होते । इन कठिनाइयों पर ध्यान रखते हुए इस सम्बन्ध में यहां जो योजना प्रस्तुत की जा रही है, अपने व्यावहारिक अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि अधिकतर अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के लिए वह पर्याप्त सुविधाजनक है ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रस्तुतकर्त्ता को प्रमुख स्थान प्राप्त होना चाहिये । प्रस्तुतकर्त्ता अपने कार्य का विभाजन निर्देशक और मुख्य प्रबन्धक के बीच कर सकता है । ये दो भिन्न-भिन्न अंग हैं । निर्देशक को नाट्याभिनय और तत्सम्बन्धी कार्य की ओर तथा मुख्य प्रबंधक को व्यवस्था और धन-संग्रह आदि की ओर ध्यान देना चाहिये । इसके लिए भी यह आवश्यक है कि निर्देशक और मुख्य प्रबंधक भी अपना-अपना काम बांट लें । उचित यह होगा कि निर्देशक के अधीन एक सहायक निर्देशक, नाटक के पात्र, संगीत-निर्देशक, अंग-रचनाकार और रंगाध्यक्ष (स्टेज मैनेजर) तथा मुख्य

प्रबंधक के अधीन एक कार्याधिकारी और एक कोषाध्यक्ष की व्यवस्था की जाय। प्रथम पक्ष में सहायक निर्देशक के अन्तर्गत डिजाइनर, पेंटर, प्रकाश-प्रबंधक, पोशाक प्रबंधक, प्रांम्पटर और उपकरण-प्रबंधक की; संगीत-निर्देशक के अन्तर्गत ध्वनियंत्र-व्यवस्थापक की और रंगाध्यक्ष के अन्तर्गत स्टोर-कीपर, बढ़ई और कुली-मजदूरों की व्यवस्था की जाय।

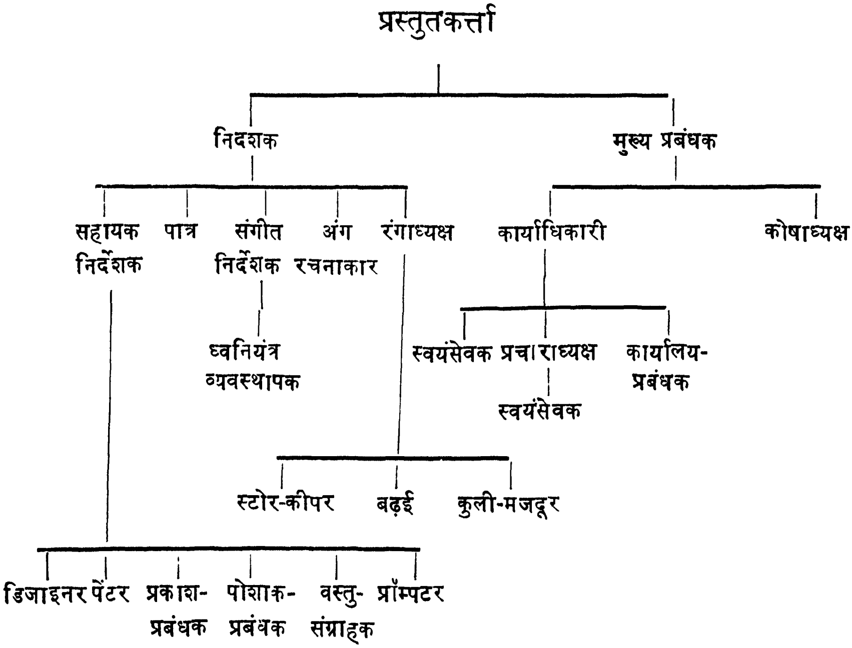

ऐसे ही, कार्याधिकारी के अन्तर्गत स्वयं-सेवक, प्रचाराध्यक्ष, कार्यालय-प्रबंधक तथा प्रचाराध्यक्ष के अन्तर्गत कुछ स्वयंसेवक होने चाहिये। कोई भी नाट्य-संस्था इस तरह की व्यवस्था करके आसानी से अपना काम चला सकती है। (**देखिये खाका संख्या १ :**)। यह अल्पतम आवश्यकता है। सुचारु रूप से काम करने के लिए इसकी पूर्ति करनी ही होगी। आरम्भ में इसमें कठिनाई हो सकती है। इससे विचलित नहीं होना चाहिये। श्री हेंनिंग नेम्स के कथनानुसार "किसी भी कला का सफलतापूर्ण अभ्यास सर्वाधिक संतोषप्रद होता है।" यह अतिशयोक्ति नहीं किन्तु यथार्थ है। रंगमंच के प्रेमी इसका अनुभव स्वतः कर सकते हैं। शर्त केवल यह है कि उनमें निष्ठा और लगन का अभाव न हो।

निर्देशक और मुख्य प्रबन्धक आदि के दायित्व का उल्लेख संक्षेप में ही किया जा सकता है; क्योंकि सभी संस्थाओं की परिस्थितियां एक-सी नहीं होतीं। भिन्न-भिन्न स्थिति में दायित्व भी भिन्न-भिन्न होता है। कुछ ही आधारभूत मान्यताएं ऐसी हैं, जो सब के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होती हैं। यहां इनका ही उल्लेख किया जा रहा है।

निर्देशक—अभिनय के लिए पात्रों को तैयार करना; पात्रों की सुविधा, अनुशासन तथा कार्य-कलाप पर ध्यान रखने एवं अभिनय की तैयारी में उनका सहायक होने के सम्बन्ध में सहायक निर्देशक को उचित परामर्श देना; अपेक्षित ध्वनि, पृष्ठ संगीत, ध्वनि-संकेत, विशेष छाप आदि के सम्बन्ध में संगीत-निर्देशक से परामर्श करना तथा नाटक में संगीत-विषयक जो कार्य जहां अपेक्षित हो, संगीत-निर्देशक को भलीभांति उसकी जानकारी कराना और पूर्वाभ्यास की अवधि के मध्य में संगीत-निर्देशन की गति, उसके प्रभाव एवं अन्य आवश्यकताओं के परीक्षण की व्यवस्था करना; अंग-रचनाकार को नाटक के प्रत्येक पात्र के जीवन, उसके स्वभाव, क्रिया-कलाप, आयु, कल्पित शक्ल, और जिस वातावरण में वह काय कर रहा हो, उससे अवगत कराना और परामर्श करके उससे यह जानकारी प्राप्त करना कि वांछित रूप में नाटक के सभी पात्रों का 'मेकअप' करने में उसको अथवा उसको और उसके सहयोगी को कितना समय लगेगा; इस जानकारी से पात्रों को अवगत कराना तथा नाट्याभिनय के समय से उतना समय पहले नाट्य-गृह में आने की हिदायत उन्हें देना, जितना समय 'मेकअप' में लगनेवाले समय में कम से कम एक घंटा अधिक जोड़ कर बनता हो; रंगाध्यक्ष (स्टेज मैनेजर) को नाटक के सभी दृश्यों का खाका तैयार कर के देना, खाका समझाना, यह बताना कि कहां और किस दृश्य के परिवर्तन में अधिक से अधिक कितना समय लगना चाहिये; अथवा 'ड्राप' से ठीक पहले का संकेत इस रूप में लिख कर रंगाध्यक्ष को देना कि किसी तरह का भ्रम उत्पन्न होने की गुंजाइश न रहे; नाटक की एक प्रति अपने पास रखने की हिदायत रंगाध्यक्ष को देना और सेटिंग आदि की व्यवस्था के लिए रंगाध्यक्ष की सुविधा के अनुसार उसको रंगमंच सुपुर्द करने की व्यवस्था करना।

सहायक निर्देशक—निर्देशक के आदेश का पालन करना; योजनानुसार दृश्यों की डिजाइनें तैयार करवाना तथा उन पर निर्देशक की स्वीकृति प्राप्त करना;

दृश्य तैयार करनेवाले पेंटर को उचित हिदायत देना तथा अपने निरीक्षण में उसस दृश्य तैयार करवाना और इस बात पर ध्यान रखना कि दृश्य में रंग नमूने के अनुसार भरे जायं; प्रकाश-व्यवस्थापक को, निर्देशक द्वारा तैयार किया गया चार्ट देना, दृश्य-क्रम से उसको अवगत कराना, चार्ट के अनुसार प्रकाश की व्यवस्था का प्रबन्ध कराना, पोशाक-प्रबंधक को अपेक्षित पोशाकों की सूची देना, पोशाक-संग्रह में उसकी सहायता करना तथा उसके द्वारा एकत्र पोशाक का निरीक्षण करके निर्देशक की स्वीकृति प्राप्त करना; नाटक में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं की सूची वस्तु-संग्रहकर्त्ता को देना, किस दृश्य में किस पात्र को कौन-सी वस्तुएं चाहिये, उसको यह समझाना और नाट्याभिनय से पूर्व यह देखना कि सभी वस्तुएं एकत्र कर ली गयी हैं; पात्रों द्वारा पूर्वाभ्यास के समय 'प्रॉम्पटर' को उचित निर्देश देना, उसकी प्रति को ठीक कराने एवं संशोधित कराने में सहायता देना तथा उससे कार्य-निर्वाह के लिए अपेक्षित अभ्यास कराना।

पात्र—निर्देशक के आदेश और अनुशासन का पालन करना; पूर्वाभ्यास के लिए निश्चित समय से कम से कम पांच मिनट पूर्व ही पूर्वाभ्यास-स्थल, अथवा नाट्यगृह में उपस्थित होना; पूर्वाभ्यास के समय वाद-विवाद न करना; सहायक निर्देशक के निरीक्षण में अभ्यास करना; अपने संवाद यथासम्भव अधिकाधिक याद करना; अपने 'रोल' को हृदयंगम करना; कभी, किसी समय उपस्थिति सम्भव न हो तो पहले ही इसकी सूचना निर्देशक अथवा सहायक निर्देशक को देना; निर्देशक अथवा सहायक निर्देशक से अनुमति प्राप्त किये बिना पूर्वाभ्यास-स्थल पर किसी बाहरी व्यक्ति को अपने साथ न ले जाना और स्वयं किसी अन्य पात्र के कार्य की आलोचना न करना।

संगीत-निर्देशक—निर्देशक के आदेशानुसार और उसके परामर्श से कार्य करना तथा ध्वनि-यंत्र व्यवस्थापक के कार्य को अपने निरीक्षण में पूरा करवाना।

अंग-रचनाकार—'मेकअप' की सामग्री एकत्र करना, 'मेकअप' का काम पूरा करने के लिए यथासम्भव ठीक-ठीक समग का अनुमान लगाना, किस पात्र का 'मेकअप' किस प्रकार का होगा, यह भलीभांति समझना और इसका लिखित विवरण अपने पास रखना, सहायक की आवश्यकता हो तो निर्देशक से अनुमति ले कर सहायक की व्यवस्था करना; निर्देशक द्वारा प्राप्त आदेश के विपरीत किसी पात्र के कहने से कोई काम न करना।

रंगाध्यक्ष—दृश्य-क्रम और सेटिंग के क्रम का खाका तैयार करना, दृश्य-परिवर्तन में कहां कितना समय लगेगा, यह नोट करना, आवश्यकतानुसार रंगमंच का निर्माण कराना; निर्देशक द्वारा संशोधित नाटक की एक प्रति अपने पास रखना; समय के अंदर दृश्य-परिवर्तन आदि के लिए जितने कुलियों-मजदूरों की आवश्यकता हो, उतने एकत्र करना; उनसे दृश्य बदलवाने का अभ्यास कराना; पर्दा और सेट आदि लगाने-हटाने के काम आनेवाला कील-कांटा-कब्जा तथा अन्य सामान दुरुस्त रखने की हिदायत स्टोर-कीपर को देना; कौन-सा फ्लाट कैसे जोड़ा जायगा, कौन-सा फ्लाट किस तरह खोल कर कब हटाया जायगा, बढ़ई को यह सब बताना और समय पर स्वयं उससे काम लेना अथवा इसके लिए सहायक नियुक्त करना ।

मुख्य प्रबंधक—बजट तैयार करना, सदस्यों अथवा अन्य सम्भावित दर्शकों की सूची का परीक्षण करना, नाटक-गृह में कार्यकर्त्ता अथवा दर्शक की प्रत्येक सुविधा पर ध्यान रखना; विशेष रूप में आमंत्रित किये जानेवालों की सूची तैयार करवाना; चंदा-संग्रह के लिए उचित प्रबंध करना; नाट्य-गृह में प्रवेश के लिए शुल्क निर्धारित हो तो प्रवेश-पत्र आदि तैयार करवाना; इस सम्बन्ध में तथा उन कार्यों के सम्बन्ध में जिनमें कानूनी कार्यवाही अपेक्षित हो, कार्यवाही पूरी करना; आवश्यकतानुसार निर्देशक को धन सुलभ कराना अथवा निर्देशक के आदेशानुसार काम करनेवाले अन्य लोगों के पुर्जे, मजदूरी आदि के भुगतान की व्यवस्था कराना; आकस्मिक संकट के समय अतिरिक्त प्रकाश-प्रबंध, जल आदि की व्यवस्था करना; समीप के अस्पताल, पुलिस, थाना, फायर-ब्रिगेड आदि का टेलीफोन नम्बर नोट कर के अपने पास रखना; सुचारु प्रबन्ध के लिए कार्याधिकारी और कोषाध्यक्ष के बीच अपने कार्य का विभाजन करना ।

कार्याधिकारी—कार्यालय का प्रबन्ध करना जहाँ से सब को अपेक्षित सूचना प्राप्त हो सकती हो; मुख्य प्रबन्धक के आदेश का पालन करना; सफाई की व्यवस्था करना; स्वयंसेवकों का प्रबन्ध करना; प्रचाराध्यक्ष नियुक्त करना; व्यय के पुर्जों की पुष्टि करना और भुगतान के लिए उन्हें कोषाध्यक्ष के पास भेजना; कागज-पत्र, फाइल, रजिस्टर, रिकार्ड आदि सुचारु रूप में रखने के लिए कार्यालय प्रबन्धक नियुक्त करना, संस्था की सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध करना, प्रवेश-पत्र आदि का विवरण तैयार

करना और उनके वितरण की जांच करना तथा सामान्य व्यवस्था-सम्बन्धी अन्य कार्य करना।

कोषाध्यक्ष—संस्था के नगद धन को सुरक्षित रखना; कार्याधिकारी द्वारा स्वीकृत व्यय के पुर्जों का भुगतान करना; आय-व्यय का ठीक-ठीक हिसाब तैयार करना, सम्पत्ति-सम्बन्धी कागजात यथा: रजिस्टर्ड डीड, बयनामा आदि को सुरक्षित रखना; समय-समय पर आर्थिक स्थिति की सूचना मुख्य प्रबन्धक को देना; स्थायी कर्मचारी हों तो उनके वेतन आदि का हिसाब तैयार करना और कार्याधिकारी की स्वीकृति लेकर भुगतान करना, देय करों का भुगतान कार्याधिकारी की सहमति से समय पर करना।

निर्देशन

•

नाटक के क्षेत्र में निर्देशन सर्वाधिक कठिन कार्य है। अव्यवसायी नाट्य-संस्था के निर्देशक की बात तो दूर, व्यवसायी निर्देशक भी स्वयं को शीघ्र ही निर्देशक कहने में हिचकेगा।

निर्देशन, प्रचलित अर्थ में स्वत: कला नहीं है किंतु विभिन्न कलाओं को समझने और समझाने की शक्ति के समुचित उपयोग की लचीली क्षमता है। रूस के प्रसिद्ध रंगमंच विशारद और निर्देशक श्री वाख्तानगोव––जिनके सम्बन्ध में श्री स्तांस्लावस्की का कहना था कि "मेरी प्रणाली की शिक्षा देने में वाख्तानगोव मुझसे भी अधिक पटु हैं" के––शब्दों में, "निर्देशक प्रथमत: और मुख्य रूप में संघटनकर्त्ता होता है––अपने विचारों, अपने स्वप्नों और अपने सहयोगियों का संघटनकर्ता। उसको अत्यन्त विनयी होना चाहिये। साथ ही वह रंगाशाला का सर्वाधिक प्रमुख व्यक्ति भी होता है, ऐसा व्यक्ति जो प्रत्येक काम में अपनी टांग अड़ाता है। वह अभिनेता और दर्शक का सबसे अच्छा दोस्त होता है।" वाख्तानगोव के कुशल शिष्य श्री निकोलाई गोरचाकोव ने अपनी पुस्तक 'दि वाख्तानगोव स्कूल ऑव स्टेज आर्ट' में उपर्युक्त मान्यता पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसने अपने गुरु के इस कथन का उल्लेख सविस्तर किया है कि अभिनेता का सम्बन्ध दर्शक से होता है; किन्तु निर्देशक को अभिनेता के साथ-साथ रंगमंच के अन्य कार्यों, दर्शकों और दर्शक-मंडप पर भी ध्यान रखना पड़ता है।

निर्देशक के दायित्व की विवेचना भलीभांति करने पर इस कथन में अतिशयोक्ति दृष्टि नहीं आयेगी। इसलिए ही निर्देशक के कार्य को सर्वाधिक कठिन

कार्य बताया गया है । इस मान्यता ने अब सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया है कि जिसको साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि की जानकारी नहीं है, वह निर्देशक नहीं हो सकता । जानकारी से यह अभिप्राय नहीं कि निर्देशक को साहित्यकार, संगीतज्ञ अथवा चित्रकार भी होना चाहिये । अभिप्राय केवल यह है कि इन कलाओं की आत्मा को परखने की शक्ति निर्देशक में होनी चाहिये । इस परख का अपना अनोखा ढंग भी है क्योंकि इसका आधार 'एक' का परिज्ञान नहीं अपितु 'अनेक' का समुचित, सुन्दर और प्रभावोत्पादक सामञ्जस्य और समन्वय हृदयंगम करना है ।

विभिन्न कलाओं को परखने और उनकी आवाज़ को समझने की क्षमता प्राप्त कर लेने के बाद भी साहित्यकार की आत्मानुभूति के अनुकूल उसके नाटक के दृश्य को रंगमंच पर उपस्थित करना आसान नहीं होता । यहीं विभिन्न कलाओं में सामञ्जस्य-स्थापन की स्वकीय महत्ता सिद्ध हो जाती है ।

सामञ्जस्य-स्थापन का यह कार्य अनेक तरह की बारीकियों पर आधारित होता है जिनका अभिनय, संगीत, प्रकाश, दृश्य-रचना, भावाभिव्यक्ति, अलंकरण आदि विभिन्न तत्वों से सीधा सम्बन्ध होता है । अभिनय चाहे जितना भी सुन्दर किया जाय, रंगमंच चाहे जितना भी सुन्दर बना दिया जाय, वह यथोचित प्रभाव तब तक नहीं डाल सकेगा जब तक प्रकाश भी इनसे उत्पन्न वातावरण में घुला-मिला नहीं रहेगा । अमेरिकी नाट्य-कला विशारद अलेक्जेण्डर डीन ने एक बार एक प्रयोग किया था । एक दृश्य में उनको नेपथ्य से सड़क पर होनेवाले शोरगुल की आवाज सुनानी थी । उन्होंने जन-कलरव से पूर्ण एक सड़क से टेप-रेकार्ड पर यह आवाज बंद कर ली । इसके पश्चात् उन्होंने पूर्वाभ्यास के समय इसके प्रभाव का परीक्षण किया । प्रभाव नाटक की आवश्यकता के बिलकुल विपरीत नजर आया । टेप-रेकार्डर को बजाना आरम्भ किया ही गया था कि पूर्वाभ्यास में लगे अभिनेताओं और दर्शकों आदि का ध्यान बंट गया और स्थिति ऐसी उत्पन्न हो गयी कि पूर्वाभ्यास को बंद कर देना पड़ा । तब निरन्तर प्रयोग करते रहने के बाद श्री अलेक्जेण्डर डीन अपेक्षित ध्वनि आरकेस्ट्रा से प्राप्त कर सके। इसने न केवल शोरगुल का वातावरण उत्पन्न किया, बल्कि दृश्य को भी इतना सजीव बना दिया कि दर्शक तन्मय हो कर उसको देखते ही रह गये ।

यह छोटा-सा उदाहरण सिद्ध करता है कि रंगमंच पर सामञ्जस्य-स्थापन का कार्य कितना कठिन और कितना परिश्रम-साध्य होता है ! इसका ज्ञान सहज ही उपलब्ध नहीं होता। वर्षों निरंतर अभ्यास और परीक्षण करते रहने के बाद ही कोई किसी दृश्य में निहित संगीत को सुन पाता है, प्रकाश के कोमल और रौद्र रूप को देखने में सक्षम होता है और अभिनय में भावनाओं के उतार-चढ़ाव को समझ पाता है।

हमारे देश की अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के ही नहीं; व्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के निर्देशक भी इतना परिश्रम करना पसन्द नहीं करते। अपवाद हैं, लेकिन उनको उदाहरण नहीं बनाया जा सकता। अच्छे निर्देशक पर्याप्त संख्या में चाहियें। इनके बिना नाट्य-कला और रंगमंच का विकास सम्भव नहीं है। यह समस्या कैसे हल होगी ? जहां तक अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं का सम्बन्ध है, इस दृष्टि से कोई मत प्रकट करना सम्भव नहीं प्रतीत होता, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि निष्ठा और रुचि उत्पन्न कर सकनेवाला वातावरण काफी सहायक हो सकता है। यह मानी हुई बात है कि इस प्रकार का वातावरण, अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं में तभी उत्पन्न हो सकता है, जब इनके कार्यकर्त्ता और कलाकारों का जीवन अनुशासनपूर्ण हो। अपने सहयोगियों को यह समझाने और इस रूप में उनके जीवन का निर्माण करने का दायित्व भी निर्देशक का ही होता है। सम्भवत: निर्देशक के इस दायित्व पर ध्यान रखते हुए ही वाख्तानगोव ने यह मत प्रकट किया था कि "निर्देशक को अत्यन्त विनयी तथा धैर्यशील होना चाहिये।" यह वह महामंत्र है जिसको हृदयंगम करनेवाला अकुशल निर्देशक अपने परिश्रम के द्वारा स्वयं तो लाभान्वित हो ही सकता है, दूसरों के विकास का मार्ग भी प्रशस्त कर सकता है। कारण स्पष्ट है। कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनको अपनाये विना अथवा जिनकी महत्ता को स्वीकार किये बिना रंगमंच के कार्य को कला के रूप में प्यार नहीं किया जा सकता। यह तत्त्व है : अनुशासन, समय पर सही काम, शांति और स्वच्छता। इनका संयोग रंगमंच के कार्य को भी कला का रूप प्रदान करता है।

इस कला का जन्मदाता होता है 'रंगमंच का निर्देशक'। वह जब तक उपर्युक्त तत्वों की महत्ता नहीं समझेगा, तब तक दूसरों को समझा भी न सकेगा।

समझाने के कार्य का दायित्व स्वतः ज्ञान प्राप्त करने के दायित्व से पृथक् नहीं है । एक के बिना दूसरे का महत्त्व नहीं है । दोनों अन्योन्याश्रित हैं । विकास अभीष्ट हो तो दोनों के निर्वाह का प्रयत्न समान रूप में होना ही चाहिये ।

समझने की बात यह है कि रंगमंच पर स्वच्छता, शांति और ठीक समय पर सही काम अकेले निर्देशक के वश की बात नहीं है । पर्दे के पीछे काम करने वाले पचीसों कार्यकर्त्ताओं का सहयोग इसके लिए अपेक्षित होता है। इन कार्यकर्त्ताओं में कुली भी हो सकते हैं और मजदूर भी; मिस्त्री भी हो सकते हैं और बढ़ई भी । यदि निर्देशक, अभिनेताओं के साथ-साथ इनको भी अपना बनाने की कोशिश नहीं करता है तो वह निर्देशक नहीं माना जा सकता क्योंकि 'प्रभु' होने का उसका दम्भ उस वातावरण के निर्माण में सहायक नहीं हो सकता जो रंगमंच के कार्य को कला के रूप में ग्रहण करने की प्रेरणा उत्पन्न कर सकता है । अतः निर्देशक के लिए यह आवश्यक है कि वह पर्दे के पीछे काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं के भी समीप रहे, उन की सहानुभूति और उनके स्नेह का भी आकांक्षी रहे । यह टेढ़ा काम नहीं है, तपस्या नहीं है । इसके लिए अपेक्षित है केवल विनयी स्वभाव । निर्देशक विनयशील होगा तो वह केवल 'हुक्म' देना ही पसन्द नहीं करेगा बल्कि यह जानने की भी चेष्टा करेगा कि पर्दे के पीछे काम करनेवाले उसके सहायक किस तरह काम करते हैं, किन परिस्थितियों में रहते हैं और कैसे उनमें लगन पैदा की जा सकती है ? यह क्रम सौहार्दपूर्ण वातावरण उत्पन्न करने में सहायक होता है, जो कार्यकर्त्ता में न केवल आदेश का पालन करने की हार्दिक इच्छा उत्पन्न करता है, बल्कि निर्देशक से ज्ञान प्राप्त करने की लालसा को भी जन्म देता है । इसी प्रकार निर्देशक भी प्रभावित होता है और उपर्युक्त वातावरण में वह न केवल आदेश देता है, बल्कि कार्यकर्त्ताओं को अपने ज्ञान में हिस्सा बटाने का अवसर भी देता है । इससे कितना लाभ हो सकता है, यह वे ही समझ सकते हैं जो यह मानते हैं कि रंगमंच पर काम करने वाले कुली-मजदूर और बढ़ई आदि निपट मूर्ख ही नहीं होते, वे भी कुछ जानते हैं । अपने अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूं कि रंगमंच पर काम करनेवाले ऐसे भी मजदूर और बढ़ई हैं जो रंगमंच का कार्य अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के अनेकानेक तथाकथित निर्देशकों से पर्याप्त अधिक जानते हैं । दूसरों के सम्बन्ध में मैं और कुछ नहीं कह सकता । अपने विषय में मैं इतना अवश्य कह सकता हूं कि मैंने रंगमंच पर कार्य करनेवाले मजदूरों

से काफी काम सीखा है और मैं कह सकता हूँ कि सत्तर प्रतिशत से भी अधिक अव्यवसायी नाट्य-संस्थाएं ऐसे मजदूरों का सहयोग प्राप्त किये बिना नाटक खेल ही नहीं सकती। इस व्यावहारिक कठिनाई का अंत हो सकता है लेकिन शर्त यह है कि अव्यवसायी नाट्य-संस्थाओं और व्यवसायी नाट्य-संस्थाओं के भी निर्देशक विनयशील रहने की चेष्टा से विमुख न हों।

निर्देशक के इस गुण की आवश्यकता का मूल्यांकन केवल रंगमंच पर पर्दे की पीछे काम करनेवाले कुलियों-मजदूरों आदि से ठीक रूप में काम लेने की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि अभिनेताओं के विकास के लिए अपेक्षित वातावरण और मनोदशा की दृष्टि से भी किया जाना चाहिये। वाख़्तानगोव का तो यह स्पष्ट मत था कि जो अभिनेता नहीं हैं, वह निर्देशक नहीं बन सकता। अवश्य ही यह मत आनुपातिक दृष्टि से ही व्यक्त किया गया होगा। इस रूप में आज भी इसकी महत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। एक कुशल अभिनेता की ही भांति निर्देशक भी अभिनय भले ही न कर सकता हो, लेकिन यह तो उसको जानना ही चाहिये कि किस दशा में अभिनेता को कैसी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है, वातावरण से वह किस रूप में प्रभावित होता है, स्थानाभाव की दशा में उसकी मनःस्थिति पर कैसा प्रभाव पड़ता है, कैसी स्थिति में रंगमंच के किस भाग पर किस रूप में खड़े होकर वह दर्शकों पर अधिक प्रभाव डाल सकता है, रंगमंच पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय उसको किस दोष से बचना चाहिये, रंगमंच पर काम करनेवाले एक अभिनेता का सम्बन्ध अपने अन्य सहयोगी के साथ कैसा होना चाहिये, रंगमंच पर प्रवेश के समय उसको किस बात का ध्यान रखना चाहिये, गमन के समय उसको सतर्क क्यों रहना चाहिये, उसको भावाभिव्यक्ति को प्राथमिकता देनी चाहिये अथवा अभिनय को, वेषभूषा और 'मेक अप' के मामले में उसको किस-किस बात पर ध्यान रखना चाहिये, आदि-आदि। इन सभी आवश्यकताओं की जानकारी में व्यावहारिक अनुभव जितना अधिक सहायक हो सकता है, अन्य और कोई उपाय उतना सहायक नहीं हो सकता। अतः यह कथन सारपूर्ण मानना ही चाहिये कि निर्देशक को अभिनेता भी होना चाहिये।

निर्देशक और अभिनेता का सम्बन्ध एक-दूसरे से ऐसा होता है कि एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल सकता। यह तथ्य कभी-कभी नहीं, अव्यवसायी

नाट्य संस्थाओं में प्राय: कठिनाइगाँ पैदा करता रहता है । अभिनेता यह मान कर निर्देशक पर हावी होने के लिए प्रयत्नशील रहता है कि निर्देशक उस की प्रत्येक कठिनाई नहीं समझ सकता । अभिनय न कर सकने की दुर्बलता से जकड़ा निर्देशक संतोषजनक ढंग से अभिनेता के अहम् को नहीं दबा पाता । ऐसी दशा में अंदर ही अंदर सत्ता की महत्ता के प्रतिपादन की होड़ आरम्भ हो जाती है और वातावरण विषाक्त हो जाता है । निर्देशक अभिनेता भी हो तो यह बुराई पैदा नहीं हो सकती । किसी कारणवश यह उभरेगी भी तो निर्देशक अपनी व्यावहारिक कुशलता के बल पर, विग्रह की स्थिति को उत्तेजित किये बगैर, इसको दबाने और नष्ट करने में सफल हो जायगा ।

अभिनेता की भावना को परखने की क्षमता भी निर्देशक में होनी ही चाहिये । इस प्रसंग का उल्लेख अकारण नहीं किया गया है । प्राय: देखा गया है कि अव्यवसायी संस्थाओं में, व्यवसायी संस्थाओं में भी, निर्देशक, अभिनेताओं पर हावी रहना चाहते हैं । कहीं ऐसा भी होता है कि निर्देशक से अभिनेता अकारण ही भयभीत रहते हैं । यह दोनों ही दशाएं अवांछनीय हैं । इनको न उत्पन्न होने देने तथा संयोग वश यदि इनमें से कोई दशा उत्पन्न हो जाय तो उसको समाप्त करने की जिम्मेदारी निर्देशक पर ही होती है । निर्देशक के लिए यह आवश्यक है कि वह अभिनेता में, भय, आशंका अथवा संदेह उत्पन्न न होने दे और इस तरह से आचरण करें कि उससे अभिनेता आतंकित न हो । अभिनेता की विभिन्न वृत्तियों के विकास के लिए आवश्यक है कि वह जिज्ञासु बना रहे, उसमें हिचक न रहे और किसी बात को समझ न सकने की दशा में, ज्ञानवृद्धि के उद्देश्य से, उसमें निर्देशक के साथ सुविधापूर्वक बात कर सकने का उत्साह हो । यह होने पर निर्देशक को अपने अभिनेताओं की मन:स्थिति का अध्ययन करते रहने का अवसर मिल सकता है । गह ऐसी आवश्यकता है जिसकी उपेक्षा कर के कोई कुशल निर्देशक नहीं बन सकता ।

निर्देशक को अभिनेता के अंतर में पैठना ही चाहिये; क्योंकि इसके बिना निर्देशक उसकी भावनाओं का——अभिनय के प्रयास और प्रवृत्ति पर जिनका व्यापक प्रभाव होता है——दर्शन नहीं कर सकता । यह दोष बना रहता है, तो अभिनेता की क्षमता को बढ़ाने का निर्देशक का सारा प्रयास विफल हो जाता है । इससे स्वत: निर्देशक की अपनी क्षमता पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है; अत: यह आवश्यक

है कि निर्देशक, अभिनेताओं को अनुशासित रखने में तो सजग रहे लेकिन उनको आतंकित न होने दे ।

इसका एक दूसरा पहलू भी है जिसका सम्बन्ध अभिनेता की मनोवृत्ति के मौलिक विकास से है । निर्देशक को यह जानना ही चाहिये कि कैसी दशा में अनुकूल मनोवृत्ति संजीवित की जा सकती है, कैसे यह कायम रखी जा सकती है । यह साधारण समझ की बात है कि अनुकूल मनोवृत्ति से रहित अभिनेता उत्साह और लगन के साथ काम नहीं कर सकता । उत्साह के अभाव में प्रेरणा ग्रहण करने की शक्ति का ह्रास होता है । जिस क्षेत्र में उत्साह और प्रेरणा ग्रहण करने की शक्ति ही विकास का मूलाधार है, उस क्षेत्र में इससे रहित व्यक्ति आगे कैसे बढ़ सकता है ? इस मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया को आँखों से ओझल रखनेवाला निर्देशक अभिनेता से काम भले ही ले ले, उसका निर्माण नहीं कर सकता । यह स्थिति निर्देशक का उपहास उड़ानेवाली ही होती है ।

निर्देशक जिस नाटक को लेकर निर्देशन करा रहा हो, उससे सम्बद्ध प्रत्येक जानकारी का ज्ञान उसको होना ही चाहिये । ऐसी जानकारी से अभिप्राय कथा के काल, तत्कालीन परम्परा, वेशभूषा आदि से है । यह जानकारी वह कहाँ से और कैसे प्राप्त कर सकता है, यह पता लगाना उसका काम है । कोई स्वतः उसके पास पहुँच कर इस कार्य में उसकी सहायता करने के लिए उत्तरदायी नहीं होता । निर्देशक सुविधानुसार किसी से भी सहायता प्राप्त कर सकता है अथवा पुस्तकालयों में जाकर अपेक्षित ज्ञान, पुस्तकों के माध्यम से अर्जित कर सकता है । यह सिरदर्द है, वास्तविक दिलचस्पी न रखनेवाला निर्देशक जिसको मोल नहीं लेता । यह तो हुई उन निर्देशकों की बात जो अपने उत्तरदायित्व से अपरिचित नहीं है । ऐसे भी निर्देशक होते हैं जो काल पर ध्यान रखते हैं किन्तु ऐतिहासिक प्रामाणिकता को आवश्यक नहीं मानते । वास्तव में यह बहाना है । या तो वाँछित अनुसंधान और परिश्रम के लिए उनके पास समय नहीं होता, या वह इससे जी चुराते हैं । यह दुर्बलता है जिससे मुक्ति पाये बिना न तो कोई निर्देशक हो सकता है, न वह स्वयं को निर्देशक कहने का अधिकारी ही माना जा सकता है ।

अन्य आवश्यकताओं को क्षण भर के लिए भुला दिया जाय और केवल नाटक विषयक जानकारी की आवश्यकता पर ही ध्यान रखा जाय, तो भी यह बात छिपी नहीं रहती कि निर्देशक की जिम्मेदारी बहुत गहन होती है और उसका क्षेत्र इतना

व्यापक होता है कि वर्षों तक निरन्तर अध्ययन, मनन और अभ्यास करने पर भी निर्देशक इसकी चौहद्दी को छू तक नहीं पाता। इसका अर्थ यह हुआ कि निर्देशक में न केवल अन्य कार्यकर्त्ताओं को वरन् स्वयं को और साथ-साथ अपने ज्ञान को भी संघटित एवं सुसम्बद्ध करने की योग्यता होनी चाहिये।

इस क्षेत्र में जितना अधिक महत्त्व अध्ययन और मनन का है, उतना ही निरंतर अभ्यास का भी। अध्ययन से वह मूलभूत सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त कर सकता है। मनन के द्वारा वह अपनी कल्पनाओं को मुखरित कर सकता है किन्तु अपने ज्ञान का मूल्यांकन करने का अवसर वह अभ्यास-क्रम में ही उपलब्ध कर सकता है। अर्थ यह हुआ कि निर्देशक के दिल और दिमाग पर कहीं कोई बंदिश नहीं होनी चाहिये।

पहले अभिनेता से निर्देशक के सम्बन्ध की ओर संकेत किया जा चुका है। इस विषय की विस्तृत बातों के सम्बन्ध में कोई एक ही मत स्थिर नहीं किया जा सका है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किया है, जिनमें एक मत यह भी है कि निर्देशक, शिक्षक भी होता है अवश्य; लेकिन इसका यह अर्थ लगाना उचित नहीं है कि केवल इसलिए ही उसको नौसिखुआ अभिनेताओं से भी काम लेने में हिचक अथवा असहमति नहीं प्रकट करनी चाहिये।

इस मत का प्रतिपादन करनेवाले यह मानते हैं कि निर्देशन के समय निर्देशक से यह अपेक्षा नहीं करनी चाहिये कि वह अभिनेता को साधारण बातें भी बतायेगा। संयोगवश अवांछनीय स्थिति में कार्य करनेवाले निर्देशक के प्रति इनकी धारणा है कि वह बीच-बीच में झुंझला भी सकता है और उसकी झुंझलाहट अनुचित नहीं मानी जा सकती।

अन्य मत के प्रतिपादक यह मानते हैं कि शिक्षक का कार्य भी निर्देशक को उसी प्रकार के मनोयोग से पूरा करना चाहिये जो वह निर्देशन-कार्य में प्रकट करता है। स्तां-स्लावस्की स्कूल में इसका विशेष महत्त्व है। जिस रूप में यह इसको अंगीकार करते हैं, उसका भी अपना महत्त्व है। निर्देशन की शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक छात्रों की कक्षा में वाख्तानगोव ने स्तां-स्लावस्की प्रणाली की चर्चा करते हुए एक बार इसके परीक्षण का अवसर छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया था। उसने कहा—"अन्य कमरे में हमको परीक्षण करना चाहिये (कक्षा से हटकर)। हम किसी ऐसी स्थिति को न लेंगे

जिसमें उन्माद होगा या झक होगी; स्थिति भयानक भी न होगी। हमें बिलकुल साधारण चीज लेनी चाहिये। उदाहरणार्थ, इस कोने में एक स्टोव पड़ा है अथवा अंगीठी का स्थान है। हमें इसको प्रज्वलित करना है और कुछ कागजात या पत्र, अथवा कुछ और जो आप चाहें, जलाने हैं।"

"बस इतना काम!" संदिग्ध हो कर किसी ने प्रश्न किया।

"इतना ही काम है।"

"ऐसा करते समय हम से किस तरह की भावना रखने की अपेक्षा की जाती है?"

"मैं नहीं जानता। आप जो भी पसन्द करें। कौन यह काम करेगा?"

वाख्तानगोव के इस उत्तर के बाद कक्षा में सन्नाटा छा गया। इस तरह का साधारण काम करने की कल्पना कीजिये। यह भी ऐसी दशा में जब वाख्तानगोव से शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता सिद्ध करने का भी यह अवसर समझ लिया गया हो। वाख्तानगोव ने जो काम सामने रखा था, वह बहुत साधारण था। इसमें विशेष कुशलता प्रकट करने की गुंजाइश नहीं थी। छात्र परेशान थे। किसी ने मुँह नहीं खोला। यह देखकर वाख्तानगोव ने कहा—"आप सब शान्त हैं। कक्षा का मॉनिटर ही काम करे।"

मॉनिटर था, निकोलाई गोरचाकोव। आज्ञा का पालन करते हुए वह अपने स्थान से उठ कर उस कोने में चला गया जिधर वाख्तागोव ने संकेत किया था।

"आप कहा जा रहे हैं," वाख्तानगोव की आवाज उसके कर्ण कुहरों से टकरायी—"वहाँ कोई स्टोव नहीं है!"

सत्य भी यही था। कोना बिलकुल खाली था। गोरचाकोव ने चारों ओर दृष्टि घुमायी। विपरीत दिशा के कोने में पड़े बेंच के पीछे उस को एक असली स्टोव दिखाई पड़ा।

"शायद वाख्तानगोव की तमन्ना है कि मैं असली स्टोव लेकर अभिनय करूँ।" दूसरे कोने में पड़े स्टोव की ओर बढ़ते हुए गोरचाकोव के दिमाग में यह विचार घूम गया। किन्तु, वाख्तानगोव ने उस को बीच में ही रोक दिया और पूछा—"अब आप जा कहाँ रहे हैं?"

"स्टोव की ओर।"

"असली स्टोव की ओर !" आश्चर्य प्रकट करते हुए वाख्तानगोव ने प्रश्न किया—"शायद आप सोचते हैं कि यह बिलकुल दुरुस्त है और इसको जलाने की ही देर है ?" दियासलाई की पेटी उछाल कर गोरचाकोव की ओर फेकते हुए उसने कहा—"लीजिये, यह है दियासलाई की पेटी ।"

हत्बुद्धि गोरचाकोव दियासलाई की पेटी लोक न सका । वह गिर गयी । उसने झुक कर पेटी उठा ली लेकिन यह न समझ सकने के कारण कि क्या करना चाहिये, वह अपने स्थान पर ही खड़ा रहा ।

"यह सब क्या है ?" नाटक में काम आनेवाले दृश्य-खंडों की ओर, जो दीवार के सहारे लदे पड़े थे, संकेत करते हुए वाख्तानगोव ने पूछा ।

गोरचाकोव ने उत्तर दिया—"जिस कक्षा के छात्र पूर्वाभ्यास में लगे थे, उनके द्वारा छोड़ी गयी सेटिंग है यह ।"

"क्या इन सबसे आप अपने लिए स्टोव या अंगीठी का स्थान नहीं बना सकते ?"

गोरचाकोव को रास्ता सूझा । पूरी दिलचस्पी के साथ वह कोने में अंगीठी बनाने में जुट गया । इस बीच उसके सहयोगियों से वाख्तानगोव की वार्ता जारी रही । गोरचाकोव को वार्ता सुनने का अवकाश नहीं था ।

"तैयार है ।" दो-तीन मिनट के बाद उसने वाख्तानगोव को सूचना दी और अपने 'सेट' को दूर से देखकर पुलकित होने के लिए उसके टेबुल के पास चला गया ।

"बुरी नहीं है", अंततः वाख्तानगोव ने कहा और साथ ही यह भी पूछा कि—"आप के घर पर ऐसी ही अंगीठी है क्या ?"

गोरचाकोव ने बताया कि उसने अन्य व्यक्ति के ड्राइंग-रूम में ऐसी अंगीठी देखी थी । इस पर वाख्तानगोव ने यह दूसरा सवाल सामने रखा—"यह ड्राइंग-रूम किस तरह सजा हुआ है ?"

गोरचाकोव ने विस्तारपूर्वक सारे बातें समझा दीं । उत्तर समाप्त हो गया, तो वाख्तानगोव ने कहा—"अब आप अंगीठी के पास क्या करेंगे ?" अग्नि

का भास करानेवाली रक्तिम परतों की ओर संकेत करते हुए वाख्तानगोव ने आगे कहा——"मेरी योजना के अनुसार अब आप इस को जला नहीं सकते, क्योंकि यह तो प्रज्वलित है ही ।"

अधिक उत्साह के कारण गोरचाकोव को हिदायतें याद नहीं रह गयी थीं । कलात्मक सेट बनाने की चेष्टा में उसने समग से पहले ही अंगीठी जला दी थी । उसने विनयपूर्वक कहा——"जैसा आप आदेश दें ।"

वाख्तानगोव ने पुनः एक प्रश्न पूछा, जिसके उत्तर में गोरचाकोव ने कहा——"सोचना पड़ेगा । कुछ कहना मुश्किल है ।"

"ठीक है, आप विचार कीजिये ।" आराम-कुर्सी पर बैठने का संकेत करते हुए गोरचाकोव से वाख्तानगोव ने कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना पुनः कक्षा के अन्य छात्रों से वार्ता करना आरम्भ कर दिया । गोरचाकोव अंगीठी के पास जो ड्राइंग-रूम में बनी समझी गयी थी, आराम-कुर्सी के पास जा कर बैठ गया ।

गोरचाकोव ने बहुत दिमाग लगागा । फिर भी, उसको कुछ नहीं सूझा । सहसा उसको स्मरण आया——मकान मालिक का बिजली का बिल नहीं चुकता किया गया है । उसे यह भी स्मरण नहीं था कि बिल कहाँ पड़ा है । अपना काम भूल कर वह जेब में पड़े कागजों को बाहर निकालने में लग गया और उन्हें गोद में एकत्र करने लगा।

वाख्तानगोव की वार्ता उधर जारी थी । गोरचाकोव कागजों की खोज करने लगा । बिल तो नहीं मिला लेकिन कुछ पुराने और निरर्थक कागज जरूर नजर आये । उसने निर्णय किया——"मैं इन्हें अंगीठी में जला दूँगा । यही अभिनय-अपेक्षित भी है । जब तक वाख्तानगोव बातों में फंसे हैं जब तक क्यों न देख लिगा जाय कि यह कैसा लगता है ?"

गोरचाकोव ने एक कागज उठाया और उसको 'आग' (बनावटी) पर लटकाया । उसने धुंआ उठने और फिर कागज के जलने की कल्पना की । हाथ में बचा शेष रद्दी टुकड़ा उसने छोड़ दिया जो लहराता हुआ आग में जा गिरा । दो और कागज लेकर पुनः उसने यही किया । इससे पूर्व इनमें से एक के सम्बन्ध में उसने कल्पना की कि 'यह पत्र है——आत्मीय का पत्र !' उसने आनन्द के साथ उसको पुनः पढ़ा । फिर सोचा——"इसको रखना चाहिये क्या ?' मन में आया——'नहीं, जो बीत गयी, सो बीत गयी ।' उसने कल्पित पत्र जला दिया ।

अचानक पर्दे के पीछे से किसी की बुदबुदाहट सुनाई दी—"यह प्रकट मत करो कि मैं यहाँ हूँ या तुम मेरी आवाज सुन सकते हो ।"

गोरचाकोव को आश्चर्य हुआ । गह उसके सहयोगी की आवाज थी । उसने सोचा—"यह पर्दे के पीछे क्या कर रहा है ? वह यहाँ कैसे पहुँचा ? अपने स्थान से वह हटा क्यों ?" उसके दिमाग में प्रश्न चक्कर काटते रहे, लेकिन उसने कुछ पूछा नहीं और अपने काम में इस तरह मशगूल रहा मानो उसने कुछ सुना ही नहीं था । फिर, बहुत धीमे से, बिना मुँह खोले ही उसने कहा—"तुम क्या चाहते हो ।" इस बार भी गोरचाकोव पूर्ववत् ही अपने काम में लगा रहा ।"

"तुमको आश्चर्यचकित करने के लिए मुझसे वाख्तानगोव ने कुछ करने को कहा है । मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता है । हमलोगों को कोई बात सोचनी चाहिये ।"

"क्यों, क्या वह मेरी ओर देख रहे हैं ? मैंने अभिनय तो अभी आरम्भ नहीं किया है ।"

"वह कभी-कभी तुम्हारी ओर देखते हैं ।"

दोनों में कुछ और बातें भी हुईं । तभी वाख्तानगोव की आवाज़ गोरचाकोव के कानों में पड़ी—"इससे काम चल जायगा ।"

प्रकट था कि गोरचाकोव को सुनाने के लिए ही वाख्तानगोव ने यह कहा था । संशक होकर वह घूम पड़ा । उसने सोचा—फुसफुसाकर बातें करने से वाख्तानगोवने दोनोंको मना किया है ; क्योंकिदोनों वार्तालाप में खो गये थे और गोरचाकोव हिदायत भूल गया था ।

"इससे काम चल जायगा । अभिनय-अभ्यास काफी सुंदर रहा ।" परेशानी पर वाख्तानगोव मुस्कराये ।

सफाई देते हुए गोरचाकोव ने कहा—"लेकिन मैंने तो कुछ भी नहीं किया । मैं तो कार्यारम्भ के लिए आपके आदेश की प्रतीक्षा कर रहा था ।"

"सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुमने अभिनय किया लेकिन यह समझते हुए कि तुम कुछ नहीं कर रहे हो ।" वाख्तानगोव ने कहा— "मुझे यह स्वीकार करना ही चाहिये कि मैंने ऐसी चाल चली जिससे निर्देशक प्रायः काम लेते हैं ।"

बाद में वाख्तानगोव ने समझाया कि उसने कैसे गोरचाकोव को कार्य में प्रवृत्त किया, क्यों और कैसे उसके मन में भावनाएं उठीं, पर्दे के पीछे उसने गोरचाकोव के सहयोगी को क्यों भेजा, आदि-आदि ! लुब्बेलुबाब यह कि वाख्तानगोव ने अभिनय की शिक्षा विशेष प्रणाली से देने में परिश्रम किया, समय लगाया । अन्य निर्देशक भी यह कर सकते हैं । इसमें कोई परेशानी नहीं है । निर्देशन-कार्य को तीन-चार चरणों में बाँटने पर इस ओर भी ध्यान दिया जा सकता है । कुछ परेशानी यदि रह जाय, तो वह आरम्भ में ही उस अभिनेता उम्मीदवार की ग्रहण-शक्ति का अंदाज लगाकर काम करने के अभ्यास से दूर हो जायगा । कुछ सतर्क रहकर काम करनेवाला निर्देशक सहज ही यह समझ सकता है कि किस पात्र अथवा अभिनेता में उसका निर्देश किस हद तक ग्रहण कर सकने की क्षमता है । प्रथम अध्याय में अभिनेता के चुनाव की विधि के प्रसंग के अन्तर्गत इसका उल्लेख किया भी जा चुका है ।[1]

वह कौन-सी बाधा है, रंगमंच पर जिसका सामना कुशल अभिनेता को भी करना पड़ता है ? निर्देशक के पास इसका उत्तर होना चाहिये । अभिनेता को अभिनय आरम्भ करने के लिए कहीं ऐसा सुन्दर मौका मिलना ही चाहिये जहाँ से वह अपनी भूमिका के निर्वाह की ओर बढ़ सकता हो । बाधा का रूप समझे बिना इस तरह के सुंदर अवसर को समझा नहीं जा सकता, उसकी कल्पना नही की जा सकती । बाधा बाह्य रचना के कारण शारीरिक भी हो सकती है और मनोवैज्ञानिक भी । यह बात अटपटी-सी लग सकती है लेकिन वास्तव में यह तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करनेवाली है । नाटक देखने के शौकीन दर्शकों ने रंगमंच पर ऐसे ही दृश्य देखे होंगे, जिनमें फर्नीचर की सजावट तो उत्तम होगी लेकिन फर्नीचर इस ढंग से लगा दिया गया होगा कि अभिनेता का हिलना-डुलना तक मुश्किल हो गया होगा । ऐसी स्थिति में प्रायः काम करने का सुंदर अवसर प्राप्त होने के बावजूद अभिनेता अपनी कुशलता प्रकट करने से वंचित रह जाता है । सोचने की बात यह है कि गलती कहाँ होती है ? फर्नीचर सजाना गलती नहीं है । अधिक कुर्सी, मेज, टेबुल आदि रखना भी गलती नहीं है । गलती होती है इस आवश्यकता पर ध्यान न रखने के कारण कि दृश्य-विशेष में जितना फर्नीचर लगाया जा रहा है, वह नाटक की आवश्यकता को न्यायपूर्ण ठहराने की दृष्टि से उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त ।

---

१. उदाहरण गोरचाकोव की पुस्तक से लिया गया है; किंतु अनुवाद आवश्यकतानुसार और स्वतन्त्र ढंग से किया गया है ।

इसका अर्थ यह समझने के बाद स्पष्ट हो जायगा कि नाटक की आवश्यकता के न्यायपूर्ण पक्ष पर ध्यान रखते हुए यदि निर्देशक अपनी ओर से 'बाधा' उत्पन्न करना तथा उसके सहारे पात्रों का विकास करना सीख जाय तो उसकी क्षमता में चार चाँद लग जायँगे। बाधा का लाभ निर्देशक यदि नाट्याभिनय के लिए अभिनेता को सुंदर अवसर प्रदान करने में उठा सकता हो, तो रंगमंच सज्जा आदि के कारण उत्पन्न होनेवाली 'बाधा' वास्तव में बाधा नहीं रह जायगी। इस कथन का मतलब यह है कि रंगमंच पर जिस असुविधा का सामना कुशल अभिनेता को भी करना पड़ता है, वह भी सुविधा में बदली जा सकती है; किंतु शर्त यह है कि 'बाधा' के रूप का ज्ञान निर्देशक को हो और नाटक की आवश्यकता के न्याय पक्ष पर दृष्टि रखते हुए इसको लाभ की दशा में बदल सकने की क्षमता एवं सूझ भी उसमें हो। ऐसी सूझ-बूझ का सम्बन्ध रंगमंच पर केवल फर्नीचर सजाने से ही नहीं होता। इसमें वातावरण, कार्य-निर्वाह-विधि, समूहीकरण, आदि भी शामिल हैं। नाट्गकार किसी दृश्य में नृत्य को अंतिम भागमें प्रस्तुत करके भले ही आगे बढ़ गया हो, निर्देशक को गह निर्णग करना चाहिये कि पूरा नृत्य प्रस्तुत करके नृत्यकर्त्ता को विशेष अवसर दिया जा सकता है अथवा नहीं अथवा एक व्यक्ति के नृत्य के स्थान पर समूहनृत्य उपस्थित करके दृश्य के मुख्य पात्र को विशेष अवसर प्रदान न किया जा सकता है या नहीं। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि निर्देशक की क्षमता ऐसे ही दृश्य में प्रकट हो सकती है। जितना नाटक में लिखा रहता है, उतना ही निर्देशक करे, यह आवश्यक नहीं है। नाटक लिखना एक बात है; रंगमंच पर उसको प्रस्तुत करना दूसरी बात। इस भेद से अपरिचित निर्देशक भद्दी भूल भी कर सकता है। रंगमंच पर वह नाटक को ऊपर तो शायद नहीं ही उठा सकता।

मनोवैज्ञानिक बाधा से अभिप्राय अनुकूल मनोदशा के अभाव से है। किसी कुशल अभिनेता का अभिनय यदि कभी खराब लगे तो इसकी शिकायत उससे कीजिये। उत्तर मिलेगा——"आज 'मूड' नहीं ठीक था।" सहसा कोई नहीं कह सकता कि यह उत्तर बनावटी अथवा गलत होता है, क्योंकि 'मूड' के सम्बन्ध में एक अजीब-सी भ्रान्ति फैली हुई है। निर्देशक कहलानेवाले भी इसका शिकार हो जाते हैं। कारण यही हो सकता है कि इसका सहारा लेकर प्रतिकूल आलोचना से पिंड छुड़ाना सहज है। यह अज्ञान है। निर्देशक को इसकी चपेट में से अलग रहना चाहिये और यह समझना चाहिये कि उपयुक्त

मनोदशा के निर्माण के लिए वह जिम्मेदार है । निर्देशक को वह 'टेकनिक' सीखनी चाहिये जो अभिनेता का 'मूड' बना सकती है । अभ्यास और सतर्कता से यह सम्भव हो सकता है ।

अभिनय को भावना के भरोसे न छोड़ दिया जाय तो 'मूड' की समस्या को निर्देशक सहज ही हल कर सकता है । प्राय: देखा गया होगा कि रंगमंच पर अभिनेता पहले 'मूड' बनाते हैं और तब अभिनय आरम्भ करते हैं । यह बिलकुल उलटी प्रक्रिया है । कुशल निर्देशक वही हो सकता है जो अभिनय को पहला और भावनाभिव्यक्ति को दूसरा स्थान देना सिखा सकता हो और अभिनेता के मन में यह बाद बैठा सकता हो कि 'मूड' बनाकर अभिनय नहीं करना चाहिये बल्कि अभिनय इस प्रकार करने की चेष्टा करनी चाहिये कि भावात्मक पक्ष स्वत: जीवित हो उठे ।

लेकिन यह कार्य निर्देशक कब कर सकता है ? प्रश्न कुछ विचित्र-सा लगेगा । कहा जा सकता है कि अभिनेता के प्रशिक्षण का समय ही इसके लिए उपयुक्त हो सकता है । उत्तर ऐसा है, जो सहसा खटक नहीं सकता । मैं कहता हूँ कि यह भ्रम-पूर्ण है । वास्तव में न तो उपर्युक्त प्रश्न विचित्र है, न उसका उत्तर तथ्यपूर्ण अर्थात् जो प्रश्न सुनने में विचित्र लगता है, उसमें अद्‌भुत कोई बात नहीं है और जो उत्तर खटकता नहीं है, सही माने में वह उत्तर है ही नहीं । रंगमंच और नाट्याभिनय के क्षेत्र में ऐसी स्थिति का अनुभव कदम-कदम पर किया जा सकता है ।

अभिनेता को अभिनय और भावभिव्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की महत्ता को बोध कराने से पूर्व निर्देशन के लिए यह ज्ञान अर्जित करना आवश्यक है कि सामूहिक पूर्वाभ्यास के समय अभिनेता के अंग किन विचार-तरंगों से प्रभावित मस्तिष्क से आदेश प्राप्त करते हैं । इस ज्ञान की उपलब्धि का प्रयास करने के पश्चात् निर्देशक यह समझ सकेगा कि वाख्तानगोव का यह कथन अक्षरश: सत्य है—

"प्राय: नाट्यशाला में आइये और अभिनेताओं पर दृष्टि रखिये । आप उन्हें मुख्यत: दो श्रेणियों में विभक्त पायेंगे । प्रथम श्रेणी के अभिनेता रंगमंच पर भी इस तरह रहने की चेष्टा करते हैं, मानों अपने घर में हैं । वह जानबूझ कर असावधानी से अभिनय करते हैं और इसको ही 'विशुद्ध' (अथवा सरल-स्वाभाविक) मानते हैं । दूसरी श्रेणी के अभिनेता आवश्यकता से अधिक उत्साही होते हैं और उत्साह को ही कलात्मकता

मान बैठते हैं। इन दो बुराइयों पर ध्यान रखते हुए मुझे छोटी बुराई चुननी हो, तो मैं दूसरी श्रेणी को पसंद करूंगा---आखिर आप यह तो सुन सकते हैं कि इस श्रेणी के अभिनेता क्या कह रहे हैं। और यह देख सकते हैं कि वह क्या कर रहे हैं। साधारणतः कहा जा सकता है कि इन दो श्रेणियों के अभिनेता निपट शौकिया ही होते हैं। वह नाटक की मर्यादा की रक्षा के लिए रंगमंच पर नहीं आते। वह नाटक के विषय को रूप प्रदान करने के लिए भी नहीं आते। वह आते हैं अपनी महत्ता प्रकट करने के लिए।"

वाख्तानगोव का यह कथन कल्पना पर नहीं, अपितु व्यावहारिक अनुभव पर आधारित है। शौकिया अभिनेता के बीच काम करनेवाला ही नहीं, पेशेवर अभिनेताओं के भी बीच काम करने वाला निर्देशक भी इसमें निहित सचाई को स्वीकार करने में एक क्षण को विलम्ब नहीं करेगा।

यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि अभिनय के गर्भ से भावनाभिव्यक्ति के क्रम का जन्म कराने की शिक्षा प्रदान करना कितना टेढ़ा काम है और किस अड़चन को पार करने के पश्चात् निर्देशक इस दिशा में अभिनेता को प्रशिक्षित करने में प्रवृत्त हो सकता है।

इस क्रम में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है जो प्रकट करती है कि केवल अभिनेता ही नहीं, बल्कि निर्देशक भी भ्रम का शिकार होता है। नाट्याभिनय के आरम्भ से एक क्षण पूर्व अथवा अवसर मिलने पर इसके दौरान भी कुछ परिवर्तन करने के लिए विकल रहनेवाले निर्देशकों (नाटकों के) की संख्या ही यहाँ अधिक होगी। यह निर्देशन के आधारभूत सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है और आचार्य इसको बहुत बड़ा गुनाह मानते हैं। इनका कहना है कि कभी तो अभिनेताओं को इस भय से मुक्त रहना ही चाहिये कि 'निर्देशक जी किसी भी समय सामने आ सकते हैं और अंतिम क्षण में भी कुछ परिवर्तन करने के लिए कोई नया परामर्श दे सकते हैं।'

इस विचार और व्याख्या पर मतभेद नहीं होना चाहिये; क्योंकि यह नितान्त तर्कोचित तो है ही; साथ ही अभिनेता का मानसिक संतुलन बनाये रखने की दृष्टि से भी इसके व्यापक महत्त्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अंतिम समय में भी परिवर्तन करने को निर्देश का गुनाह समझने का आधार यही है कि नाट्याभिनय प्रस्तुत करने से पूर्व अभिनेता का मस्तिष्क शांत रहना चाहिये, उसका दिमाग किसी तरह की

परेशानी या उलझन से मुक्त रहना चाहिये अथवा गह कह लिया जाय कि मानसिक संतुलन स्थिर रहना चाहिये। पहले ही कहा जा चुका है कि अभिनेताओं और कार्यकर्त्ताओं को भय और आशंका से निवृत्त रखना निर्देशक का प्रथम कर्त्तव्य है। नाट्याभिनय से क्षण भर पहले भी परिवर्तन करने का आदेश देने की ताक में रहनेवाला निर्देशक अपने इस आरम्भिक कर्त्तव्य का निर्वाह कभी भी नहीं कर सकता।

इस प्रसंग के अन्तर्गत ध्यान में रखने योग्य अंतिम बात यह है कि निर्देशक यह कहावत चरितार्थ करने की चेष्टा कभी न करें—'बिल्ली ने शेर को सारे दाँव बता दिये लेकिन पेड़ पर चढ़ना नहीं सिखाया।' इस कहावत को चरितार्थ करने के लिए प्रयत्नशील निर्देशक आत्महीनता की भावना का शिकार होता है। यह आशंका उसको सदा दबोचे रहती है कि अभिनेता या कार्यकर्त्ता सब कुछ जान जायँ तो उन पर रुआब नहीं कायम रखा जा सकेगा। इस प्रकार की भावना कार्य-विधि के निरूपण की सारी प्रक्रिया को दूषित कर देती है। फलतः निर्देशक न तो स्वयं अपने सहयोगियों पर विश्वास कर पाता है, न उनका विश्वास अर्जित कर पाता है। ऐसे वातावरण में निस्पृहता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में निस्पृहता का महत्त्व ही सर्वोपरि है। जहाँ इसका सम्बन्ध शिक्षण और प्रशिक्षण से हो, वहाँ उसके अभाव को गुनाह मानना चाहिये। अतः सच्चे निर्देशक का एक कर्त्तव्य यह भी है कि वह अपने सहयोगियों के समक्ष अपना ज्ञान उड़ेलने में कभी किसी तरह की हिचक प्रकट न करे।

जिन बातों का उल्लेख ऊपर किया गया है, पूर्वाभ्यास के समय उन पर बराबर दृष्टि रखनी पड़ती है। पूर्वाभ्यास का संयोजन स्वतः काफी कठिन काम है। यथेष्ट व्यावहारिक अनुभव ही इसमें निर्देशक का सहायक हो सकता है। श्री एफ. ई. डोरन का कहना है कि नाट्याभिनय प्रस्तुत करने की सारी प्रक्रिया में पूर्वाभ्यास का ही कार्य ऐसा है जिसके सम्बन्ध में अनुशासन का पालन अत्यंत दृढ़ता के साथ किया जाना चाहिये। यह ठीक भी है। अनेक ऐसे नाटक जिनके सम्बंध में पूरी-पूरी तैयारी की गयी थी, पूर्वाभ्यास में अनियमितता के कारण विफल होते देखे गये हैं। इस तथ्य पर दृष्टि रखते हुए पूर्वाभ्यास का संचालन और संयोजन जो निर्देशक नहीं करता, अन्य क्षेत्र में उसके सारे परिश्रम पर सहज ही पानी फिर जाता है।

शौकिया संस्थाओं, व्यवसायी संस्थाओं में भी प्रायः यह देखा गया है कि जिन पात्रों का काम गौण होता है, वह यह मान कर नियमित रूप से पूर्वाभ्यास में भाग

नहीं लेते कि 'दो मिनट का काम है, रोज-रोज अभ्यास करना आवश्यक नहीं है।' यह ऐसी मिथ्या और अनर्थमूलक धारणा है, जिसका शिकार होनेवाला अभिनेता कभी-कभी सारा नाटक चौपट कर देता है, अत: निर्देशक द्वारा प्रत्येक अभिनेता के मन में यह बात बैठा दी जानी चाहिये कि किसी का काम चाहे जितना भी छोटा हो, वह महत्त्वहीन नहीं होता; क्योंकि सामञ्जस्य-स्थापन, समूहीकरण अथवा एकत्रीकरण में उसका भी स्थान होता है और उसकी जरा-सी गलती मुख्य पात्र-विषयक व्यवस्था को नष्ट कर सकती है, दृश्य व्यंजना के अन्तर्गत प्रमुख पात्र की महत्ता को प्रदर्शित करने की चेष्टा विफल कर सकती है और सारी दृश्य-रचना को दूषित कर सकती है। यह समझाने के पश्चात् निर्देशक का आचरण, अनुशासन का पालन कराने की दृष्टि से, ऐसा होना ही चाहिये जिससे अभिनेता प्रभावित रहे और यह समझने में भूल न करे कि अनियमित रहने पर छोटे से काम से भी हाथ धोना पड़ सकता है। इस मामले में किसी भी प्रकार की ढिलाई पूर्वाभ्यास को व्यवस्थित नहीं रहने दे सकती। निर्देशक को यह मानना ही चाहिये कि अनुशासन के सम्बंध में ढिलाई अनिश्चित वातावरण उत्पन्न करती है। इसका नितांत प्रतिकूल प्रभाव कार्यकर्त्ताओं के समूह पर पड़ता है; क्योंकि वे सोचने लगते हैं—"नाटक होगा भी या नहीं; 'उसकी' वजह से सबका परिश्रम नष्ट हो जायगा; 'वह नियमित नहीं रहता तो हमको क्या पड़ी है जो अपना समय नष्ट करें' आदि-आदि।" इस तरह की भावना कुशल को भी अकुशल बना देती है और तब गुड़ भी सहज ही गोबर हो जाता है।

अनुशासन का पालन कराने के सम्बंध में ढिलाई के प्रति सतर्क रहकर ही निर्देशक, बुराई से मुक्ति पा सकता है, यह सोचना भी गलत होगा। पूर्वाभ्यास की योजना तैयार करने में लापरवाही से काम लेने के फलस्वरूप भी दोष उत्पन्न हो सकता है। निर्देशक यदि अनियोजित तरीके से काम ले तो नियमित रहनेवाले अभिनेता भी अनियमित हो सकते हैं। मान लिया जाय कि पूर्वाभ्यास आरम्भ करने की सूचना निर्देशक सब सम्बद्ध व्यक्तियों को देता है। सब यथास्थान ठीक समय पर पहुँच भी जाते हैं। निर्देशक कुछ लोगों से काम लेता है, शेष व्यक्ति बैठे रहते हैं। यह क्रम कई दिनों तक चलता है। अभ्यास न करनेवाले अभिनेता इससे ऊब जाते हैं। निर्देशक इस ओर ध्यान नहीं देता। ऐसी दशा में परिणाम क्या होगा? निश्चित है कि पूर्वाभ्यास के समय उपस्थित रहनेवाले कार्यकर्त्ताओं और अभिनेताओं की संख्या धीरे-धीरे कम होने लगेगी। इस प्रकार

व्यतिक्रम का रास्ता आप से आप तैयार हो जायगा और कुछ दिनों के बाद निर्देशक कभी एक को और कभी दूसरे को अनुपस्थित पाने लगेगा । इस दोष को उत्पन्न न होने देने का उपाय यही है कि पूर्वाभ्यास आरम्भ कराने से पहले निर्देशक इसकी सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध योजना तैयार करे, पूर्वाभ्यास में भाग लेने वाले कार्यकर्त्ताओं और अभिनेताओं को इससे अवगत कराये ताकि एक-एक अभिनेता यह समझ जाय कि कब उसकी अनुपस्थिति से पूर्वाभ्यास के कार्य में अव्यवस्था उत्पन्न नहीं होगी । इतनी सी सावधानी निर्देशक को अनेक कठिनाइयों से बचा लेगी ।

पूर्वाभ्यास के सम्बंध में योजना बनाते समय निर्देशक को इन बातों पर ध्यान रखना चाहिये :—

१. **अभिनेता और कार्यकर्त्ताओं के समक्ष पूरे नाटक का पाठ;**
२. **पात्रों से परामर्श;**
३. **रंगमंच-विषयक व्यवस्था का निरूपण और इस सम्बन्ध में रंगाध्यक्ष (स्टेज मैनेजर) से परामर्श;**
४. **उपयुक्त वेषभूषा के सम्बन्ध में परामर्श और इसका प्रबन्ध;**
५. **नाटक में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों की उपलब्धि;**
६. **उपयुक्त पात्रों का चुनाव;**
७. **कार्य-विभाजन;**
८. **पूर्वाभ्यास-कार्य का विभाजन;**
९. **तैयारी;**
१०. **परीक्षणात्मक प्रदर्शन ; और**
११. **प्रदर्शन ।**

इन सुझावों का उल्लेख करते समय मैंने उन कार्यों पर ही ध्यान दिया है, जिन्हें छोटी-छोटी संस्थाओं के निर्देशक भी थोड़ा उद्योग करके सरलता से पूरा कर सकते हैं । कितनी अवधि में ये कार्य पूरे किये जायँ ? इस प्रश्न का कोई एक ही निश्चित उत्तर नहीं हो सकता । इसके सम्बंध में कुछ कहने से पूर्व साधन, क्षमता और रुचि आदि की जानकारी हासिल करना जरूरी है; क्योंकि पूर्वाभ्यास एक काम है और पूरी तैयारी के साथ नाटक खेलना दूसरा ।

साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हों तो औसत स्तर के नाटक की तैयारी में कम से कम डेढ़ मास का समय अवश्य लगेगा । इस अवधि को आधार मान कर उपर्युक्त

पूर्वाभ्यास-क्रम

सप्ताह	रवि	सोम	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि
पहला	नाटक पाठ	पात्रों से परामर्श	रंगाध्यक्ष से परामर्श	वस्त्राध्यक्ष और उपकरण संग्राहक से परामर्श	पात्र-परीक्षण	निर्देशन-संकेत के साथ पात्र-परीक्षण	भूमि का-वितरण
दूसरा	प्रथम अंक का पूर्वाभ्यास	पूर्वाभ्यास द्वितीय अंक	पूर्वाभ्यास तृतीय अंक	पूर्वाभ्यास प्रथम अंक	पूर्वाभ्यास द्वितीय अंक	पूर्वाभ्यास तृतीय अंक	पूर्वाभ्यास प्रथम अंक
तीसरा	पूर्वाभ्यास द्वितीय अंक	पूर्वाभ्यास तृतीय अंक	पूर्वाभ्यास प्रथम अंक	पूर्वाभ्यास द्वितीय अंक	पूर्वाभ्यास तृतीय अंक	पूर्वाभ्यास प्रथम अंक	पूर्वाभ्यास द्वितीय अंक
चौथा	पूर्वाभ्यास तृतीय अंक	पूरा नाटक	पूरा नाटक	पूरा नाटक	पूरा नाटक	पूरा नाटक	विश्राम
पाँचवाँ	पूरा नाटक	पूरा नाटक रंगमंच पर	पूरा नाटक रंगमंच पर	पूरा नाटक रंगमंच पर वेशभूषा के साथ	पूरा नाटक रंगमंच पर वेशभूषा के साथ	विश्राम	विश्राम
छठवाँ	रंगमंच साज-सज्जा के साथ पूरा नाटक	रंगमंच साज-सज्जा के साथ पूरा नाटक	प्रकाश-व्यवस्था के साथ पूरा नाटक	प्रकाश व्यवस्था के साथ पूरा नाटक	पूरा नाटक पूर्ण व्यवस्था के साथ	परीक्षणात्मक प्रदर्शन	प्रदर्शन

खाका : २

कार्यों का विभाजन सुविधापूर्ण ढंग से किस प्रकार किया जा सकता है, उस का एक रूप (**खाका संख्या** २, पृ. ५२) में दिया गया है। आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन भी किया जा सकता है। पूर्वाभ्यास आरम्भ करने से पहले निर्देशक को ऐसा खाका अवश्य तैयार करना चाहिये और पूर्वाभ्यास स्थल पर किसी ऐसी जगह उसको लगा देना चाहिये, जहाँ सभी कार्यकर्त्ता उसको देख सकते हों।

यह तो हुआ निर्देशन-विषयक व्यवहार पक्ष। तकनिकी पक्ष इससे कम जटिल नहीं है। इसके अन्तर्गत जो कार्य अपेक्षित हैं, उनका सीधा सम्बंध निर्देशक के ज्ञान, अनुभव, क्षमता आदि से है। इनकी रूप-रचना में निर्देशक परामर्श चाहे जिससे प्राप्त कर ले, कोई उसका सहायक नहीं हो सकता।

निर्देशन के अन्तर्गत तकनिकी पक्ष में समूहीकरण, दृश्य-विधान, चलना-फिरना, नाटकीय प्रभाव से अभिनय का तादात्म्य, सुमेल ही मुख्य हैं। प्रत्येक विषय का अपना महत्त्व है। इनको निर्देशन के आधारभूत सिद्धांतों के अन्तर्गत भी माना गया है।

तकनिकी पक्ष के विभिन्न विषयों के विस्तृत विवेचन के बिना, इनके उल्लख की उपयोगिता सिद्ध नहीं की जा सकती, अतः आगे पृथक्-पृथक् एक-एक विषय पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ इस ओर ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक है कि समूहीकरण हो अथवा दृश्य-विधान अथवा अन्य कार्य, प्रत्येक का रंगमंच-विधान से गहरा सम्बंध है। रंगमंच कैसा होना चाहिये, दर्शक की दृष्टिरेखा से उसका क्या सम्बंध है, रंगमंच के किस भाग पर आकर अभिनेता, रंगमंच पर उपस्थित अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्राप्त कर सकता है, अभिनय-स्थल-विभाजन किस क्रम से होना चाहिये, रंगमंच पर प्रवेश किधर से प्रभावोत्पादक हो सकता है और गमन किस ओर से, आदि की जानकारी के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। रंगमंच का निर्माता इन बातों पर ध्यान रखकर रंगमंच का निर्माण नहीं करेगा या जहाँ स्थायी रंगमंच हो, वहाँ आवश्यकतानुसार चिह्नांकन आदि का कार्य सम्पन्न नहीं कर लेगा, तो निर्देशन के अन्तर्गत तकनिकी पक्ष में आनेवाले अनेक कार्य सुचारु रूप में पूरे न किये जा सकेंगे।

खाली रंगमंच का भी अपना महत्त्व है और यह किसी अन्य कार्य के महत्त्व की तुलना में कम नहीं ठहर सकता।

●

रंगमंच

नाट्याभिनय की उपयोगिता यह है कि वह दर्शक-स्थल पर उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति को पूरा-पूरा नजर आये। यदि बायीं अथवा दायीं ओर कोने में बैठे, अथवा एकदम पीछे की पंक्ति में या दर्शक-मंडप अथवा दर्शक-भवन की ऊपरी मंजिल (बालकनी) में बैठे किसी व्यक्ति को पूरा नाट्याभिनय नजर नहीं आता तो समझ लेना चाहिये कि रंगमंच की व्यवस्था दोषपूर्ण है। स्थानाभाव अथवा उपयुक्त स्थान मिलने की शिकायत अज्ञान पर पर्दा डालने का प्रयास मात्र होता है। नाटक चाहे किसी स्कूल के हाल में खेला जा रहा हो, वा किसी के मकान के प्रांगण में; नाट्य गृह में खेला जा रहा हो अथवा खुले मैदान में, प्रत्येक अवस्था में उसका एक-एक व्यापार दर्शक को नजर आना ही चाहिये—दर्शकों के लिए सुरक्षित स्थान के जिस कोने में भी वह हो। दर्शक की इस सुविधा (इसको अधिकार कहना अधिक उपयुक्त होगा) की ओर ध्यान देना प्रस्तुतकर्त्ता का कर्तव्य है। थोड़ा-सा परिश्रम करके और योग्य सहयोगियों के परामर्श एवं सहयोग से वह समुचित व्यवस्था कर सकता है।

इस दृष्टि से शौकिया नाट्य संस्थाओं को जिन कठिनाइयों और परेशानियों का सामना करना पड़ता है, व्यवसायी संस्थाओं को उनका सामना करना पड़े तो शायद उनका भी उत्साह अपने स्थान पर कायम न रह सकेगा। उपयुक्त नाट्य-गृहों का अभाव ही इसका कारण है। हमारे देश में नाट्य-गृह गिने-गिनाये हैं। देश की आबादी और उसका विस्तार देखते हुए ये नगण्य हैं।

नाट्य-गृह की तो बात दूर रही, यहाँ स्थायी रंगमंच भी कुछ प्रमुख शहरों में ही मिलेंगे। कठिनाइयों का आभास केवल इस एक बात से ही भलीभाँति प्राप्त किया जा सकता है। इन कठिनाइयों का सामना नाटक खेलने वाली संस्थाओं

को करना ही पड़ता है । जिन संस्थाओं के पास धन का अभाव नहीं है, वे सिनेमा-घर को किराये पर ले कर अपना काम चला लेती हैं; किंतु जिन को धन एकत्र करने के लिए जी-तोड़ परिश्रम करना पड़ता है, उनके सामने बाँस-बल्ली, चौकी आदि का सहारा लेने के अलावे कोई और मार्ग नहीं रहता । दुर्भाग्यवश हमारे देश में ऐसी ही संस्थाएँ अधिक हैं । ये संस्थाएँ भी अपने श्रम और धन का समुचित उपयोग नहीं कर पातीं ।

यहाँ रंगमंच-रचना और उसके समुचित उपयोग की जिन विधियों का उल्लेख किया जा रहा है, उन पर अमल कर के नाटक खेलने वाली संस्थाएँ सहज ही लाभान्वित हो सकती हैं ।

सामान्य और प्रचलित परिभाषा के अनुसार रंगमंच उस ऊंचे चबूतरे को कहते हैं, जो अगल-बगल और ऊपर से ढका रहता है, जिसके पीछे चित्रित अथवा सादा पर्दा लटकता रहता है तथा जिस पर नाटक के पात्र अभिनय करते हैं । रंगमंच कई प्रकार के होते हैं । यहाँ रंगमंच की बनावट पर ध्यान देना चाहिये । इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने योग्य सबसे पहली बात यह होती है कि जो नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाने वाला है, उसके लिए कम से कम कितना स्थान आवश्यक होगा । इसका निर्णय करते समय पूरे उपलब्ध स्थान के क्षेत्रफल पर ध्यान रखना जरूरी होगा, अन्यथा रंगमंच-विषयक नाप-जोख, अपेक्षित दर्शक संख्या के लिहाज से गड़बड़ भी हो सकती है ।

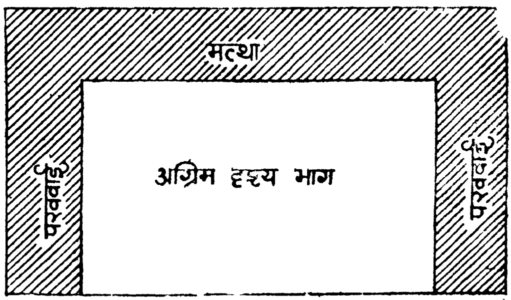

खाका : ३

मान लिया जाय कि जो नाटक खेला जानेवाला है, उसके लिए चौखटेदार रंगमंच की आवश्यकता है (हमारे देश में चौखटेदार और चक्रिल, दो तरह के रंगमंच प्रचलित हैं । चक्रिल रंगमंच का उपयोग करनेवाली संस्थाओं की संख्या

नगण्य है। प्रायः सर्वत्र चौखटेदार रंगमंच का ही उपयोग होता है)। चौखटेदार रंगमंच के आगे एक मत्था और अगल-बगल दो बड़ी-बड़ी पखवाइयाँ (Proscenium) होती हैं (देखिये—खाका संख्या ३, पृ. ५५)। सामने की ओर जो हिस्सा रिक्त बच जाता है, उस को अग्रिम दृश्य-मार्ग (Proscenium Opening) कहा जाता है। दर्शक की दृष्टि-रेखा का सम्बन्ध इस भाग से ही होता है।

चौखटेदार रंगमंच का ढाँचा बनाने के बाद सर्वप्रथम दर्शक-स्थल की ओर ध्यान देना चाहिये। दर्शक-स्थल आनुपातिक दृष्टि से या तो ढालुआँ होना चाहिये या कुर्सियाँ क्रम से नीची-ऊँची होनी चाहिये।

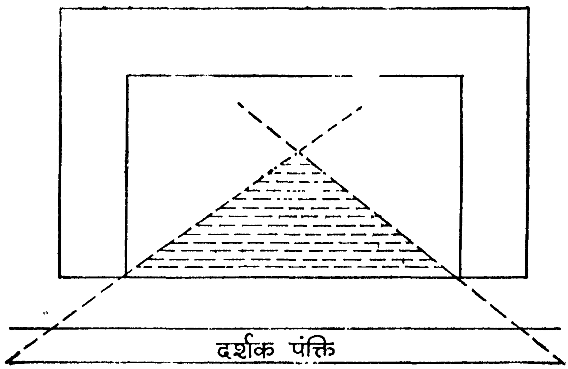

खाका : ४

दर्शक-स्थान की प्रथम पंक्ति के दोनों छोर पर बैठे दर्शकों को रंगमंच के अग्रिम दृश्य भाग के अंदर का जितना हिस्सा नजर आता हो, उसको ही मुख्य अभिनय-स्थल मानना चाहिये (देखिये खाका संख्या ४)। रंगमंच के इस भाग पर प्रस्तुत किया जानेवाला अभिनय किसी भी दर्शक की निगाह से छिपा नहीं रहेगा। इसका उपयोग आँख बंद कर के नहीं किया जा सकता। दृश्य-विधान और पात्र विशेष की महत्ता प्रकट करनेवाले स्थल के चिह्नांकन तथा सामान्य अभिनय के लिए रंगमंच-स्थल-विभाजन के बिना अभिनय-स्थल के समुचित उपयोग का अवसर नहीं प्राप्त किया सकता। आगे चल कर इसका उल्लेख किया जायगा।

रंगमंच-विषयक जिन दो प्रमुख बातों का उल्लेख ऊपर किया गया है, रंगमंच-रचना के आगे का सम्पूर्ण कार्य इन पर ही आधारित होता है। इनका

अध्ययन भलीभांति करने के पश्चात् आगे का कार्य सुगम प्रतीत होगा । प्रश्न उठता है कि इनके अध्ययन की सरल विधि कौन-सी है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए कागज-पेंसिल का सहारा लेना होगा ।

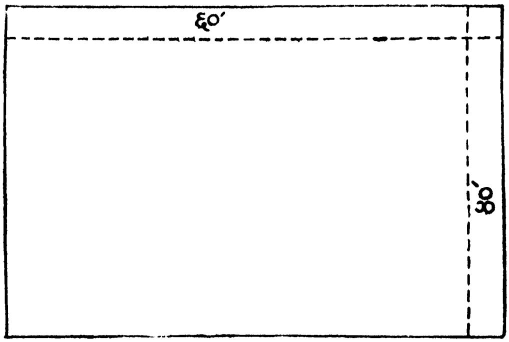

खाका : ५

मान लिया जाय कि ६० फुट लम्बा और ४० फुट चौड़ा स्थान प्राप्त है (देखिये खाका संख्या ५) । १′=१०′ फुट मान कर इस स्थान का खाका तैयार कीजिये । आवश्यकतानुसार रंगमंच का खाका इसमें बैठा देने पर सही स्थिति ज्ञात हो जायगी ।

मान लीजिये ऐसे रंगमंच की आवश्यकता है, जिसका अग्रिम दृश्य भाग २४ फुट चौड़ा और १२ फुट ऊंचा हो । गहराई इसकी १५ फुट हो । इसके अतिरिक्त रंगमंच के ठोस भाग की ऊँचाई जमीन से पाँच फुट हो । (खाका ६; पृ. ५८)

जमीन के खाका में रंगमंच का खाका बैठाने के लिए इसको दो भागों में विभक्त करना होगा । इन दोनों भागों को जमीन के खाका में अलग-अलग फिट करने और दर्शकों की प्रथम पंक्ति के दोनों छोरों पर दर्शक का स्थान निश्चित करने के बाद यह ज्ञात करना आसान हो जायगा कि रंगमंच का कितना भाग प्रत्येक दर्शक को नजर आयेगा ।

पहले रंगमंच के अग्रिम दृश्य भाग का खाका तैयार कर लिया जाय (खाका : ६) और इसके पश्चात् रंगमंच के ठोस भाग की ऊंचाई और गहराई का

(खाका : ७) । दूसरे भाग को जमीन के खाका में मिलाने पर रंगमंच और दर्शकों की प्रथम पंक्ति के बीच पाँच फुट एवं रंगमंच से दर्शक-स्थल की ओर देखनेवाले अभिनेता की बायीं ओर की दीवार और दीवार के सबसे निकट, पहली पंक्ति के दर्शक के बीच

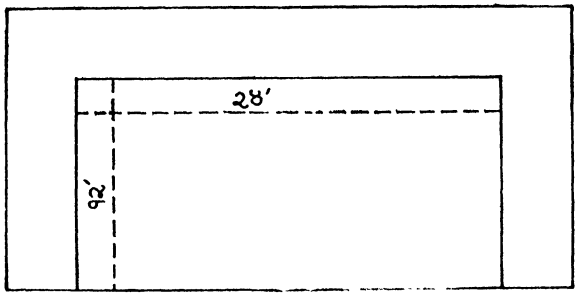

खाका : ६

४ फुट जमीन छोड़ने के वाद, साधारण कुर्सी पर बैठनेवाला दर्शक 'खाका : ७' में रंगमंच के चिह्नांकित भाग को नहीं देख सकेगा। अर्थात् चिह्नांकित भाग के अतिरिक्त शेष भाग (दूसरे छोर के दर्शक की दृष्टि-रेखा से इसी प्रकार पृथक होनेवाले स्थान को छोड़ कर) सब दर्शकों को दृष्टिगत होगा ।

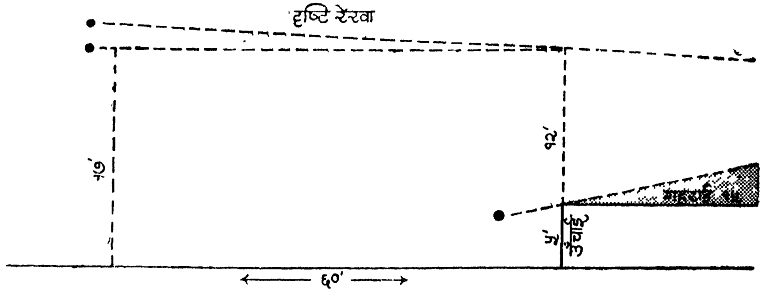

खाका : ७

इस दर्शक-स्थल पर यदि बालकनी भी बनी हो तो उसकी ऊँचाई १७ फुट से अधिक नहीं होनी चाहिये (खाका : ७) ।

दर्शक-स्थल के अधिकाधिक भाग का उपयोग करते हुए जमीन के खाका में रंगमंच के अग्रिम दृश्य भाग का खाका बैठाने पर जो परिणाम नजर आ सकता है, वह 'खाका : ८' में दिखाया गया है। 'खाका : ७' में अगल-बगल दोनों ओर ४–४

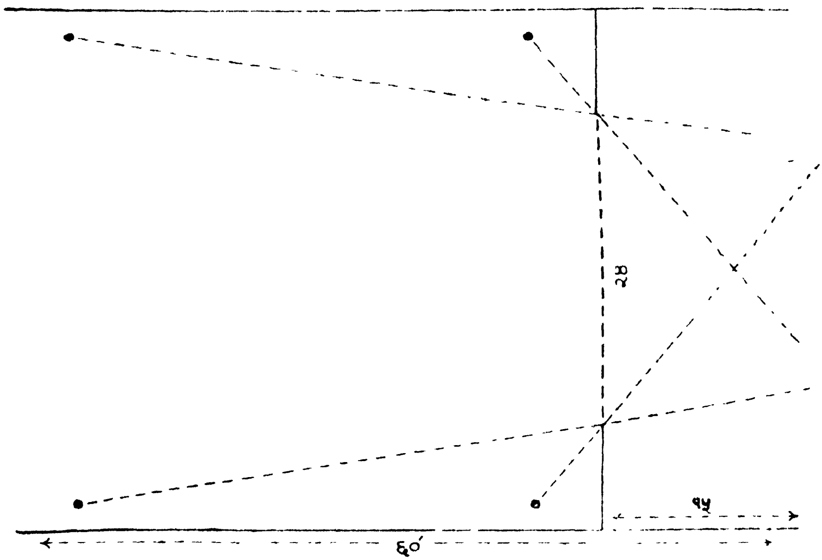

खाका : ८

फुट स्थान छोड़ा गया है किंतु यही 'खाका : ८' में २–२ फुट घटा दिया गया है। इसमें रंगमंच का वह भाग भी दर्शाया गया है, जो बालकनी में बैठे प्रत्येक दर्शक को नजर आ सकता है।

स्पष्ट हो जाता है कि खाका बनाना बहुत कठिन काम नहीं है। थोड़ से अभ्यास की आवश्यकता है। खाका तैयार करने के पश्चात् सावधानी के साथ दृश्य-विधान पर ध्यान देकर न केवल रंगमंच सुंदर बनाया जा सकता है, बल्कि पूरे दृश्य के साथ अभिनय भी प्रत्येक दर्शक की आँखों के सामने रखा जा सकता है। सच तो यह है कि इसके बिना सेटिंग भी निर्दोष नहीं हो सकती।

पूरे स्थान का खाका तैयार करने के बाद रंगमंच का—जहाँ बना हुआ रंगमंच न हो—निर्माण-कार्य आरम्भ किया जा सकता है। अस्थायी रंगमंच के निर्माण

में बल्ली, बाँस, लकड़ी का तख्ता और ७× ३ फुट की बनी हुई चौकियों (लकड़ी की) से काम लिया जा सकता है।

सर्वप्रथम अग्रिम दृश्य-भाग पर निशान लगाया जाय। इसके बाद दोनों छोर के विंदुओं के बाहर अर्थात् दृश्य भाग की चौड़ाई से आगे पखवाई की चौड़ाई से कुछ अधिक और जमीन ली जाय और दोनों विंदुओं पर कम से कम १७ या अट्ठारह

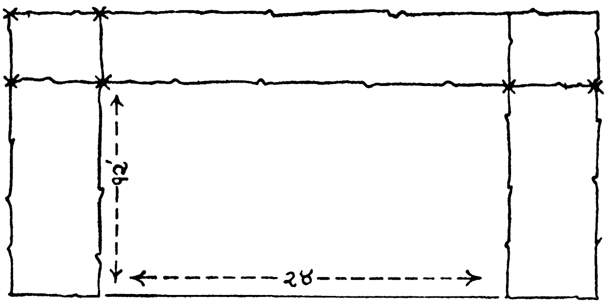

खाका : ९

फुट लम्बी बल्लियाँ गाड़ दी जायँ। इसी प्रकार अन्य छोर पर भी दो बल्लियाँ गाड़ दी जायँ (खाका : ९)। इस तरह आगे की पखवाइयाँ और मत्था लगाने का आधार तैयार हो जायगा। अंदर के भाग की बंदिश के लिए अग्रिम दृश्य भाग के दोनों छोर के विंदुओं से रंगमंच के चबूतरे पर भीतर की ओर उतनी बड़ी दो लम्ब रेखाएँ खींचनी चाहिएँ,

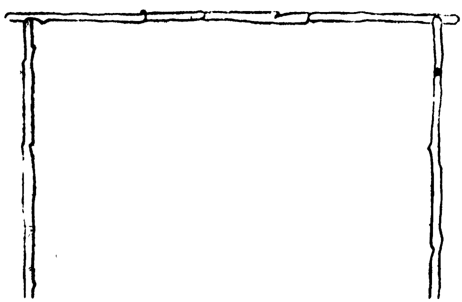

खाका : १०

जितनी गहराई अपेक्षित हो। भीतर की ओर इन रेखाओं के अंतिम विंदुओं पर पूर्व

की भांति दो बल्लियाँ गाड़नी चाहियें और फिर एक मजबूत समतल बल्ली उपर्युक्त दोनों बल्लियों के सिरे तक ले जाकर दोनों किनारों पर मजबूती से बाँध देनी चाहिये (खाका : १०)। इसी भांति शीर्ष भाग की बल्लियाँ, पीछे की बल्लियों से एक-एक स्वतंत्र बल्ली द्वारा जोड़ दी जानी चाहिये (खाका : ११)। इस प्रकार चार पायों का जो ढाँचा खड़ा होगा, उसके माथे पर मचान बाँधने के लिए लम्बे और मजबत बाँस अथवा

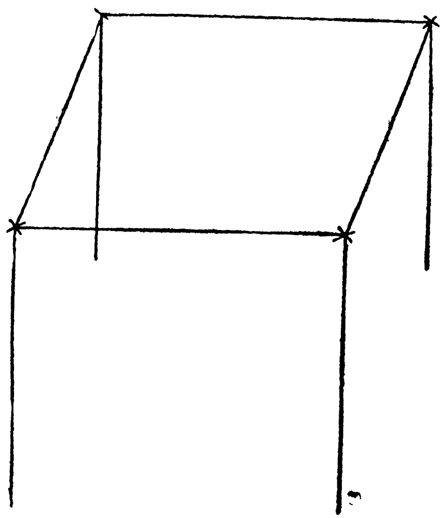

खाका : ११

बल्ली स काम लिया जा सकता है। मचान मजबूत और ठोस होनी चाहिये, ताकि वह उन पर्दों का बोझ संभाल सके जो उन पर लटकाये जायँ। मचान जितनी अधिक ऊँची होगी, उतनी ही सुविधा होगी किंतु ऊँचाई इतनी नहीं होनी चाहिय कि माथे पर ढँकी न जा सके और दर्शक स्थल से दिखाई देने लगे। मचान में आवश्यकता-नुसार आड़ी और खड़ी अर्थात् लम्ब और समतल बल्लियाँ लगायी जा सकती

हैं (खाका : १२)। इतना कार्य पूरा करने तथा चौकियों का चबूतरा बना

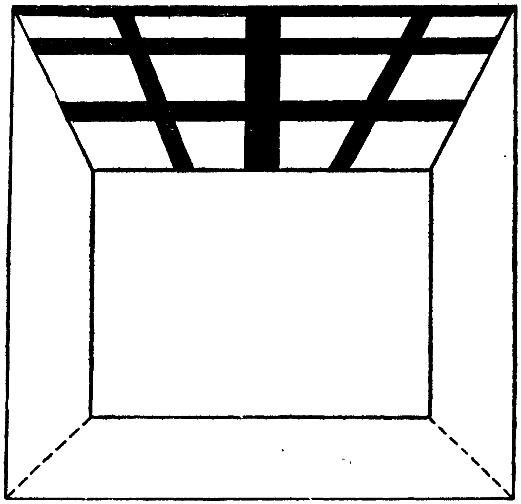

खाका : १२

लेने और आगे की पखवाइयाँ तथा मत्था लगाने के बाद एक किनारे

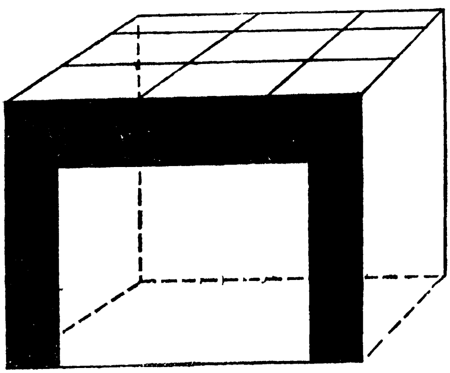

खाका : १३

से रंगमंच का ढाँचा कुछ ऐसा ही नजर आयेगा जैसा खाका कि १३ में दिखाया गया है।

इस ढाँचे को भरने की दो विधियाँ प्रचलित हैं। या तो बड़ी पखवाई के पीछे छोटी पखवाइयों के तीन-चार जोड़ लगा दिये जाते हैं और प्रत्येक जोड़ के माथे पर झालर लटका दी जाती है जो मचान से बंधी होती है या पूरे रंगमंच पर दृश्यपीठ (सेटिंग) की व्यवस्था की जाती है। पखवाई के प्रत्येक जोड़ के पीछे अथवा आवश्यकतानुसार, मचान से परदे लटकते रहते हैं जो भूमि के समतल लकड़ी अथवा बाँस की खपाचियों के बेलन के साथ संयुक्त रहते हैं। रस्सी और कुप्पियों के सहारे ये पर्दे ऊपर खींच लिये जाते हैं। पर्दे बेलन में लिपटते हुए ऊपर खिचते जाते हैं और आवश्यकतानुसार गिरा दिये जाते हैं।

पखवाइयाँ लगाते समय दृष्टि रेखा पर ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा रंगमंच की साज-सज्जा बिगड़ जायगी (खाका : १४)। एक आवश्यक बात यह भी

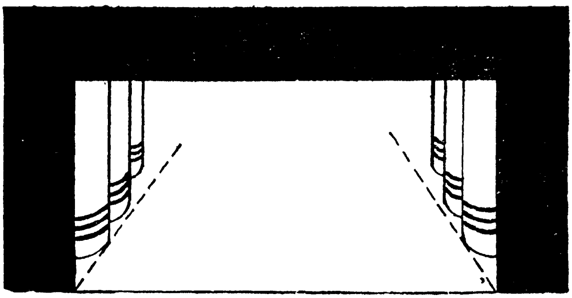

खाका : १४

है कि पखवाई के माथे पर जो झालर लगायी जाय, वह पखवाई पर चित्रित चित्र या तो पूरा करती हो, या उससे मेल खानेवाले रूप में चित्रित हो। इस कार्य में असावधानी होने पर दृश्य-रचना का कार्य दोषपूर्ण होगा और दृश्य भद्दा तथा भोंड़ा दिखाई देगा। खाका : १५ में पखवाई और उसके माथे पर लगी झालर बिलकुल ठीक है। इस झालर से पखवाई का अधूरा चित्र पूरा होता है। फलतः खम्भा साफ-साफ उभड़ा दिखाई देता है। खाका : १६ (पृ. ६४) में पखवाई पर लगी झालर उलटी है, अतः चित्र बिगड़ गया है और यह समझ में नहीं आता कि पखवाई और झालर से बना चित्र किस वस्तु का बोध कराता है। शौकिया नाट्य-संस्थाएँ प्रायः इस तरह की भद्दी भूल करती हैं, क्योंकि उनके कार्यकर्त्ता या तो झालर और पखवाई लगाने की विधि नहीं जानते या मजदूरों

के भरोसे रह जाते हैं। किराये पर सामान लेने में भी कभी-कभी ऐसी दिक्कत होती

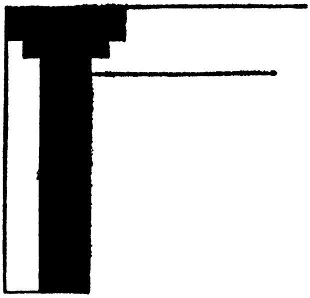

खाका : १५

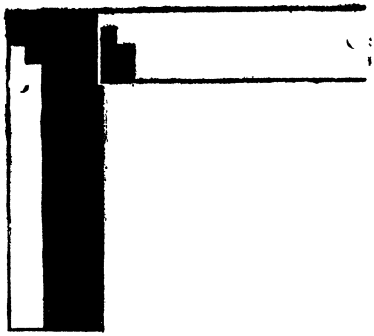

खाका : १६

है। पखवाई के साथ झालर की अनुकूलता का बहुत महत्त्व होता है। यही बात पखवाई और झालर के पीछे लगाये गये पर्दे के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

रंगमंच-व्यवस्था ठीक न होने के कारण प्रायः गड़बड़ी होती है। पर्दे के पीछे काम करनेवाले कुली-मजदूर उचित निर्देश प्राप्त न होने के कारण दृश्य-परिवर्तन के समय पर्दा तो बदल देते हैं, लेकिन पखवाई या झालर अथवा पखवाई और झालर, दोनों को बदलना भूल जाते हैं। फलतः जो दृश्य सामने आता है, वह विकृत होता है। चित्र संख्या : १ मुंशी प्रेमचंद द्वारा लिखत कहानी 'कफन' पर आधारित नाटक का एक दृश्य है। इसमें पर्दा सड़क का लगाया गया है लेकिन पखवाई राजमहल के प्रकोष्ठ का एक भाग प्रकट करती है। इससे दृश्य में विकृति उत्पन्न हो गयी है।

पखवाई के जोड़ के स्थान पर अब दृश्यपीठ का प्रचलन बढ़ रहा है; किन्तु इसमें धन अधिक लगता है, अतः प्रगति मंद है।

दृश्यपीठ के सम्बंध में किसी एक ही सिद्धांत से काम लेना कठिन है, क्योंकि भिन्न-भिन्न नाटकों की आवश्यकता भी भिन्न होती है।

दृश्यपीठ प्रायः त्रिपरिमाणात्मक भी होते हैं और द्विपरिमाणात्मक भी। त्रिपरिमाणात्मक दृश्यपीठ का प्रचलन अधिक है।

दृश्यपीठ का उपयोग चित्रांकन के बिना अथवा खाका बनाये बिना सम्भव नहीं है; क्योंकि इसमें प्रयुक्त होनेवाला दरवाजा, खिड़की, अंगीठी, चित्र, प्लैट-

इस ढाँचे को भरने की दो विधियाँ प्रचलित हैं । या तो बड़ी पखवाई के पीछे छोटी पखवाइयों के तीन-चार जोड़ लगा दिये जाते हैं और प्रत्येक जोड़ के माथे पर झालर लटका दी जाती है जो मचान से बंधी होती है या पूरे रंगमंच पर दृश्यपीठ (सेटिंग) की व्यवस्था की जाती है। पखवाई के प्रत्येक जोड़ के पीछे अथवा आवश्यकतानुसार, मचान से परदे लटकते रहते हैं जो भूमि के समतल लकड़ी अथवा बाँस की खपाचियों के बेलन के साथ संयुक्त रहते हैं । रस्सी और कुप्पियों के सहारे ये पर्दे ऊपर खींच लिये जाते हैं। पर्दे बेलन में लिपटते हुए ऊपर खिचते जाते हैं और आवश्यकतानुसार गिरा दिये जाते हैं।

पखवाइयाँ लगाते समय दृष्टि रेखा पर ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा रंगमंच की साज-सज्जा बिगड़ जायगी (खाका : १४) । एक आवश्यक बात यह भी

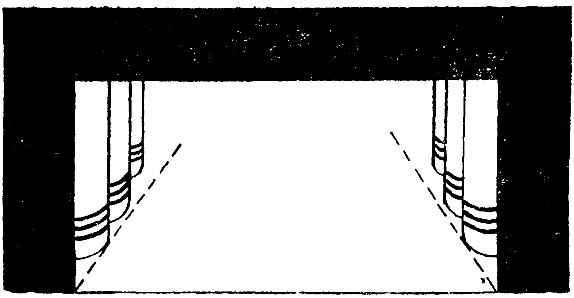

खाका : १४

है कि पखवाई के माथे पर जो झालर लगायी जाए, वह पखवाई पर चित्रित चित्र या तो पूरा करती हो, या उससे मेल खानेवाले रूप में चित्रित हो । इस कार्य में असावधानी होने पर दृश्य-रचना का कार्य दोषपूर्ण होगा और दृश्य भद्दा तथा भोंड़ा दिखाई देगा । खाका : १५ में पखवाई और उसके माथे पर लगी झालर बिलकुल ठीक है। इस झालर से पखवाई का अधूरा चित्र पूरा होता है। फलतः खम्भा साफ-साफ उभड़ा दिखाई देता है। खाका : १६ (पृ. ६४) में पखवाई पर लगी झालर उलटी है, अतः चित्र बिगड़ गया है और यह समझ में नहीं आता कि पखवाई और झालर से बना चित्र किस वस्तु का बोध कराता है। शौकिया नाट्य-संस्थाएँ प्रायः इस तरह की भद्दी भूल करती हैं, क्योंकि उनके कार्यकर्त्ता या तो झालर और पखवाई लगाने की विधि नहीं जानते या मजदूरों

के भरोसे रह जाते हैं। किराये पर सामान लेने में भी कभी-कभी ऐसी दिक्कत होती

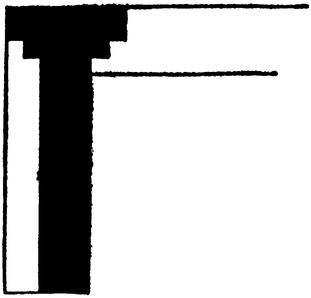

खाका : १५

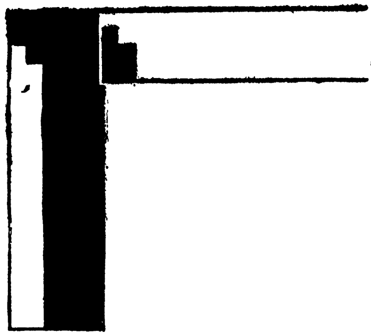

खाका : १६

है। पखवाई के साथ झालर की अनुकूलता का बहुत महत्त्व होता है। यही बात पखवाई और झालर के पीछे लगाये गये पर्दे के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

रंगमंच-व्यवस्था ठीक न होने के कारण प्राय: गड़बड़ी होती है। पर्दे के पीछे काम करनेवाले कुली-मजदूर उचित निर्देश प्राप्त न होने के कारण दृश्य-परिवर्तन के समय पर्दा तो बदल देते हैं, लेकिन पखवाई या झालर अथवा पखवाई और झालर, दोनों को बदलना भूल जाते हैं। फलत: जो दृश्य सामने आता है, वह विकृत होता है। चित्र संख्या : १ मुंशी प्रेमचंद द्वारा लिखत कहानी 'कफन' पर आधारित नाटक का एक दृश्य है। इसमें पर्दा सड़क का लगाया गया है लेकिन पखवाई राजमहल के प्रकोष्ठ का एक भाग प्रकट करती है। इससे दृश्य में विकृति उत्पन्न हो गयी है।

पखवाई के जोड़ के स्थान पर अब दृश्यपीठ का प्रचलन बढ़ रहा है; किन्तु इसमें धन अधिक लगता है, अत: प्रगति मंद है।

दृश्यपीठ के सम्बंध में किसी एक ही सिद्धांत से काम लेना कठिन है, क्योंकि भिन्न-भिन्न नाटकों की आवश्यकता भी भिन्न होती है।

दृश्यपीठ प्राय: त्रिपरिमाणात्मक भी होते हैं और द्विपरिमाणात्मक भी। त्रिपरिमाणात्मक दृश्यपीठ का प्रचलन अधिक है।

दृश्यपीठ का उपयोग चित्रांकन के बिना अथवा खाका बनाये बिना सम्भव नहीं है; क्योंकि इसमें प्रयुक्त होनेवाला दरवाजा, खिड़की, अंगीठी, चित्र, प्लैट-

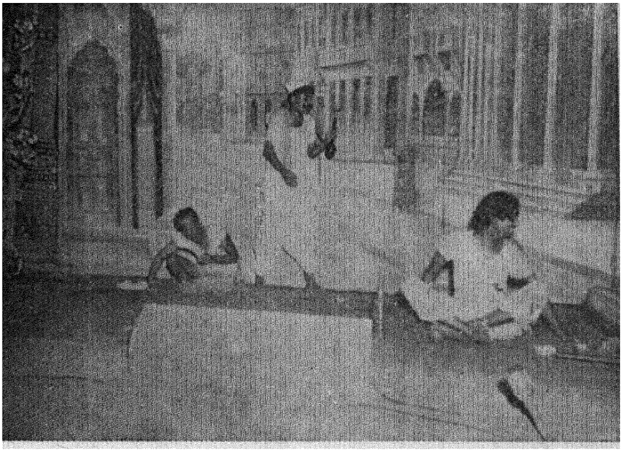

चित्र : १
मुंशी प्रेमचन्द द्वारा लिखित कहानी 'कफ़न' पर आधारित नाटक का एक दृश्य

चित्र : २
संगीत-नृत्य-नाट्य 'शेणी विजयानन्द' का एक दृश्य

फार्म आदि का सही-सही नाप नहीं मिलेगा तो दृश्य लगाया नहीं जा सकेगा। इस पर ध्यान देने से निश्चित रूप में चूक होगी और आनुपातिक दृष्टि से दरवाजा, खिड़की आदि देखने में भद्दी लगेगी। इस दोष से बचने के लिए अध्ययन और कुछ युक्ति अपेक्षित होती है। अनुभव बताता है कि दृश्यपीठ की रचना के मामले में अध्ययन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण युक्ति सिद्ध होती है। यही पेशेवर रचनाकार शौकिया कलाकार से मार खा सकता है क्योंकि युक्ति पर किसी का एकाधिकार नहीं होता। सूझ तो सूझ है, वह किसी के भी माथे में बैठ सकती है।

दृश्यपीठ रचना का कार्य साधारण कल्पना से आरम्भ करना चाहिये। इस का खाका ठीक उतर आयेगा तो कलात्मक ढंग से उसमें परिवर्तन का काम बिलकुल आसान हो जायगा। श्री हाल डी० स्टेवार्ट ने इसकी जो विधि बतायी है, वह बहुत आसान है। उनके कथनानुसार पहले दृश्यपीठ का माडल, रंगमंच के माप पर ध्यान रखते हुए दफ्ती अथवा मोटे कागज का बनाना चाहिये ताकि आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन करना कठिन प्रतीत न हो।

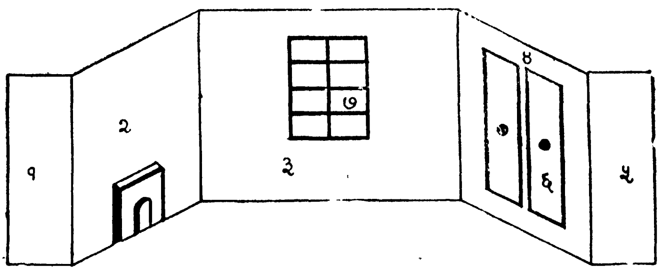

खाका : १७

यह कार्य कैसे आरम्भ किया जा सकता है? **खाका संख्या १७** को देखिये। यह त्रिपरिमाणात्मक दृश्यपीठ का नमूना है। दफ्ती का ऐसा नमूना सरलता से बनाया जा सकता है। इस दृश्यपीठ का ही उपयोग करना हो तो इसका निर्माण आठ भागों में करना होगा। खाके में प्रत्येक भाग संख्या से चिह्नित हैं। सबका निर्माण अलग-अलग होगा। रंगमंच पर सभी भाग काँटा, कब्जा, चपटा प्लेट, लोहे की सलाई आदि से सुगमतासे एक-दूसरे से जोड़े जा सकते हैं और अति शीघ्र अलग-अलग करके रंगमंच से हटाये जा सकते हैं। दृश्यपीठ को सुगमता और शीघ्रता से हटाने का उल्लेख

इसलिए किया जा रहा है कि यह रंगमंच व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग है। नाट्याभिनय के दौरान देखते-देखते दृश्य को बदलना और दर्शकों को पता न चलने देना बड़ी कुशलता का कार्य है जिसमें रंगमंच पर पर्दे के पीछे काम करनेवाले कुली-मजदूर निरंतर अभ्यास और उचित प्रशिक्षण द्वारा ही पटु किये जा सकते हैं।

ऊपर जिस दृश्यपीठ का उल्लेख है उसके तीन भागों को—**अंगोठी, खिड़की** और **दरवाजा**—छोड़ कर शेष भाग लकड़ी के चौखटे पर मोटा कपड़ा या कैनवस तान कर जड़ने और रंगने से बन जायँगे। इनका नाप रंगमंच की चौड़ाई, गहराई और ऊंचाई पर ध्यान रखते हुए स्थिर करनी होगी। इसका सबसे सुगम उपाय है—रंगमंच के माप के अनकूल, सलई के बक्स का, टेबल पर रखा जा सकने योग्य लघु रंगमंच तैयार करना है। 'खाका : ११' को देखकर इसकी शक्ल का अंदाज लगाया जा सकता है। रंगमंच का यह मॉडल न केवल दृश्यपीठ में प्रयुक्त होनेवाले विभिन्न टुकड़ों और 'फ्लैट' का सही नाप प्राप्त कराने में सहायक होता है, बल्कि प्रकाश-व्यवस्था का खाका तैयार करने में भी इससे मदद मिलेगी।

दृश्यपीठ के निर्माण में केवल रंगीन पर्दों से भी काम लिया जा सकता है। ठोस त्रिपरिमाणात्मक वस्तु बनाने से जो नतीजा हासिल होता है, वह कपड़े के पर्दे का उपयोग थोड़ी-सी सूझ-बूझ के साथ करने से भी हासिल किया जा सकता है। 'चित्र-संख्या : २' एक ऐसे ही दृश्यपीठ का नमूना है। इस पुस्तक के लेखक ने संगीत-नृत्य-नाट्य 'शेणी विजयानन्द' के लिए इसका निर्माण कराया था। इसमें दृष्टिगत होनेवाला पहाड़ काले रंग के सादे पर्दे से बनाया गया था। इसमें न तो लकड़ी का चौखटा अथवा अन्य प्रकार का ढाँचा लगावाया गया था, न कहीं कील-काँटे से काम लिया गया था। पूरा पर्दा बाँस की खपाचियों की कमानियों पर लगाया गया था। छाया और प्रकाश का चिह्नांकन उचित ढंग से न किये जाने का कारण इसमें चित्रकला की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ रह गयी थीं। यहाँ इन पर ध्यान न देकर निर्माण-विधि ही देखनी चाहिये। दृश्यपीठ अथवा 'सेट' के निर्माण की यह दूसरी विधि है।

द्विपरिमाणात्मक दृश्यपीठ का निर्माण भी सादे पर्दों, चित्रित फ्लैट आदि की सहायता से किया जा सकता है। इसमें दृश्य के दो भाग दृष्टिगत होते हैं। 'चित्र संख्या:३' ऐसे ही सेट का फोटो है, लेखक ने बंगला के प्रसिद्ध नाटक 'उल्का' के लिए

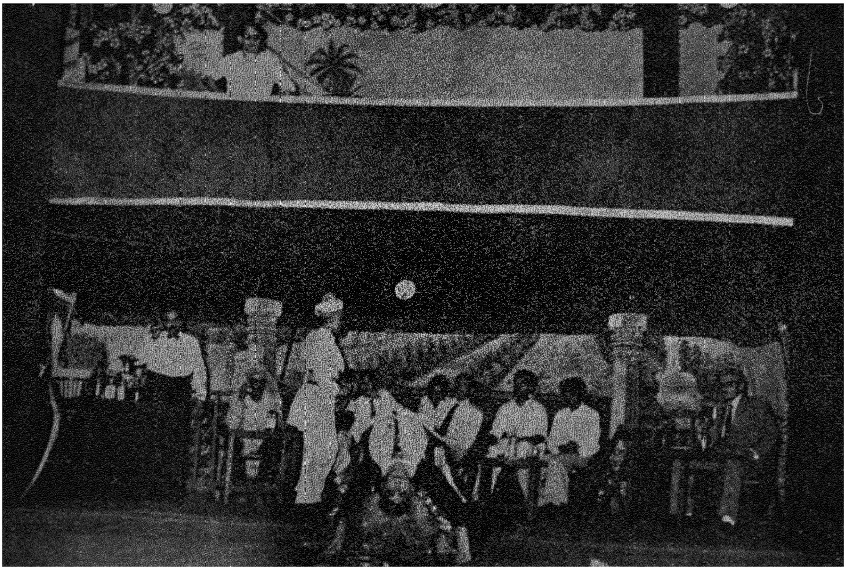

चित्र : ३—बंगला के प्रसिद्ध नाटक 'उल्का' का एक दृश्य

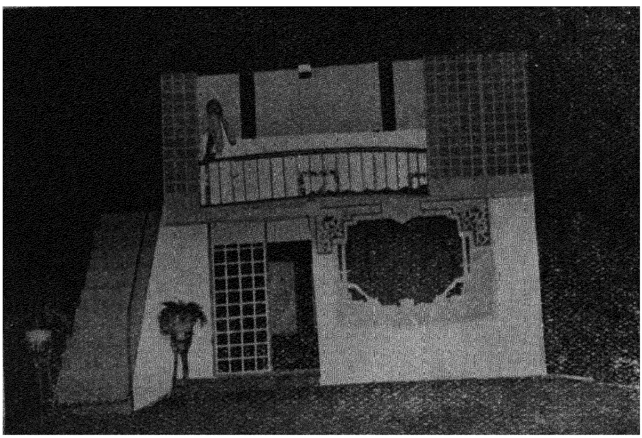

चित्र : ४—'अक्लमन्दी' नामक नाटक का एक दृश्य

इसका निर्माण कराया था । चित्र में दृष्टिगत होनेवाली रेलिंग और छत की पाटन केवल एक ही पर्दे और तार की सहायता से बनायी गयी थी । दूसरी मंजिल पर खड़े होने तथा चलने-फिरने का स्थान कई बाँसों को एक-दूसरे के साथ समतल सटा कर मजबूती के साथ बाँध कर बनाया गया था । बाँस समतल बिछाये गये थे और दोनों किनारों पर पर्दे की पीछे खड़ी-बल्लियों के साथ बाँध दिये गये थे ।

'चित्र संख्या:४' एक ऐसे सेट का फोटो है जिसमें लोहे के एक इंच और पौन इंच पाइप के पचासों छोटे-छोटे टुकड़े, लकड़ी के पचासों टुकड़े और सलाई की लकड़ी के ८'×७"×१" के चौदह तख्ते लगाये गये थे । लेखक ने 'अक्लमंदी' नामक नाटक के लिए इसका निर्माण कराया था । पूरा नाटक एक ही सेट पर चलता है, अतः इनका बड़ा सेट बनाना सम्भव हो सका । 'सेट' का यह तीसरा नमूना इस बात का द्योतक है कि ऐसा सेट तभी बनाया जा सकता है जब दृश्यपीठ परिवर्तन भी नाटक में आवश्यक न हो । पर्दे पर चित्रित दृश्य से काम चलनेवाला हो तो ३—४ दृश्यों के नाटक में भी इतने बड़े सेट का उपयोग हो सकता है, अन्यथा नहीं । दृश्यपीठ-निर्माण करते समय इस बात पर ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा पूर्वाभ्यास के क्रम में अंतिम परीक्षणात्मक प्रदर्शना के समय घोर अव्यवस्था का और मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाली परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है ।

पहले कहा जा चुका है कि रंगमंच के क्षेत्रफल पर ध्यान रखते हुए उसके अनुपात से ही दृश्यपीठ की रचना का खाका तैयार किये बिना दृश्यपीठ अथवा 'सेट' का निर्माण कराने पर धोखा भी हो सकता है । श्री एफ. ई. डोरन के जिस उदाहरण से मैं इसकी महत्ता हृदयंगम कर सका उसका उल्लेख यहाँ अप्रासंगिक नहीं है । श्री डोरन के कथनानुसार ——"सेट के निर्माण से पहले प्रस्तुतकर्ता को स्थान की दृष्टि से 'सेट' के आकार पर अवश्य विचार कर लेना चाहिये और यदि सीढ़ी, चबूतरा अथवा प्लैटफार्म बनाना आवश्यक हो तो सामान में हाथ लगाने से पहले जोड़-बाकी करके हिसाब भी बैठा लेना चाहिये । उसको इस बात पर ध्यान रखना ही चाहिये कि छः इंच से ऊंची सीढ़ी पर चढ़ने में सुविधा नहीं होगी और सीढ़ी का ७ इंच से कम चौड़ा समतल भाग असुविधाजनक होगा । यदि रंगमंच केवल अट्ठारह फुट गहरा हो तो तबतक दस डंडा सीढ़ियों पर अवस्थित बड़े गिरजाघर के शानदार प्रवेश द्वार का डिजाइन तैयार करने से कोई लाभ न होगा,

जबतक यह न देख लिया गया हो कि दस डंडा सीढ़ियों (प्रत्येक का समतल भाग ८ इंच होने पर) बनाने पर रंगमंच के फर्श का कितना भाग खत्म हो जायगा । ८ इंच चौड़ी दस डंडों की सीढ़ी में १०"×८"=८०"अर्थात् लगभग ६।। फुट स्थान लगेगा; अर्थात् रंगमंच की गहराई इतनी कम हो जायगी और ऐसी दशा में प्रथम सीढ़ी से फुट लाइट तक लगभग ११' फुट स्थान ही शेष बचेगा। इतने स्थान में चार व्यक्ति पंक्ति में भलीभाँति घूम-फिर नहीं सकते । दूसरी ओर, प्रत्येक सीढ़ी की ऊंचाई यदि ४" हो तो दस डंडा सीढ़ी रंगमंच की सतह से १०"×४"=४० इंच ऊँची हो जायगी । इस पर सात फुट ऊँचा दरवाजा लगाने पर उसका माथा उस रंगमंच के बाहर दर्शक-स्थल से दिखाई नहीं देगा जिसके अग्रिम दृश्य भाग की ऊँचाई १२ फुट होगी । नाटक के प्रस्तुतकर्ता को यही अभीष्ट हो, तब तो कोई बात नहीं पैदा होग। जरूरी ही है कि जो चीज वह तैयार करना चाहता है, रंगमंच पर उसके निर्माण के बाद नजर आ सकनेवाले प्रभाव को वह निर्माण से पहले ही जान ले ।"

कार्य-व्यापार से सेट का घनिष्ठ सम्बंध होता है, अत: सेट का निर्माण करते समय और साज-सज्जा लगाने से पूर्व इस ओर भी ध्यान देना चाहिये। इस दृष्टि से पूरी 'सेटिंग' दो भागों में विभक्त मानी जाती है। पहले भाग में सेट के वे अंग होते हैं, जिनका अभिनेता के कार्य-व्यापार से सीधा सम्बंध होता है । दूसरे भाग में ऐसे अंग होते हैं, जो दृश्य की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और शोभा बढ़ाते हैं; किन्तु जिनसे कार्य-व्यापार का सम्बंध नहीं होता। मान लिया जाय कि सेटिंग अथवा दृश्यपीठमें एक अलमारी भी लगायी जानी है । यदि अभिनेता इसका उपयोग महत्त्वपूर्ण ढंग से करनेवाला हो; अर्थात् इसमें रखी फाइलें उसको निकालनी हों, अथवा महत्त्वपूर्ण कागजात इनमें रखने हों तो 'सेटिंग' अथवा दृश्यपीठ की रचना के समय अलमारी ऐसे स्थान पर रखनी चाहिये, जहाँ पहुँचकर अभिनय करनेवाला अभिनेता दर्शकों की आँखों से छिपा न रहे और वे अभिनेता का एक-एक कार्य देख सकें । सेटिग की वे वस्तुएँ जिनका कार्य-व्यापार से सम्बंध नहीं होता, सजावट और दृश्य-विधान की पूर्ति पर ध्यान रखते हुए कहीं भी रखी जा सकती हैं ।

इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि 'सेटिंग' में कुर्सी, टेबुल, आलमारी, घड़ी, सेफ आदि वस्तुएँ भी प्रयुक्त होती हैं । महत्त्व की दृष्टि से इनके मूल्यांकन के एक

पहलू का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इससे लाभ उठाने के लिए यह जानना जरूरी है कि रंगमंच का कौन-सा भाग किस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता है ? यह विषय स्वतः काफी पेचीदा है, अतः इस पर बाद में प्रकाश डाला जायगा । इससे पहले सेटिंग के साथ छत के निर्माण की विधि का उल्लेख करना ही उपयुक्त है ।

छत ढकने की एक विधि झालर लटकाने की है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है किन्तु कभी-कभी त्रिपरिमाणात्मक दृश्यपीठ में केवल झालर से छत को ढकना मुश्किल हो जाता है। इस कठिनाई से बचने के लिए या तो दृश्यपीठ के अगल-बगल और पीछे का भाग बहुत ऊँचा बनाना पड़ता है, ताकि दृश्यपीठ के अग्रिम भाग पर एक ही झालर लगाने से काम चल जाय, या दृश्यपीठ के अग्रिम भाग पर एक बल्ली डाल कर और उसमें पर्दा कुछ लपेट कर जड़ दिया जाता है । फिर उसको पीछे खींच कर एक दूसरी बल्ली पर चढ़ा कर और खींच कर तान दिया जाता है। यह विधि

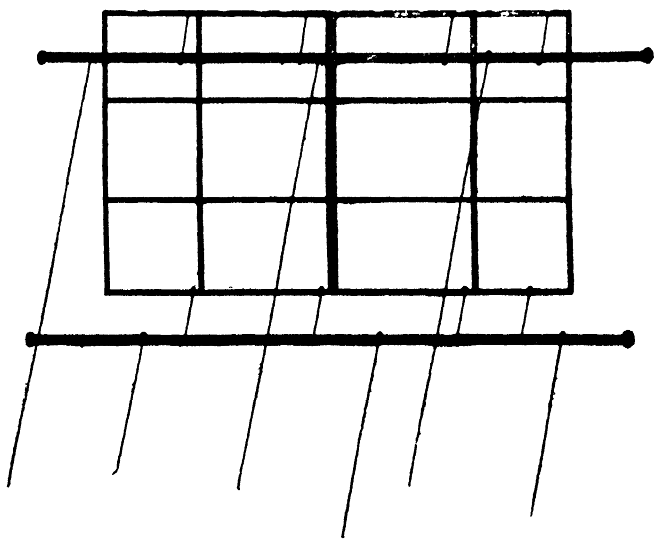

खाका : १८

त्रुटिपूर्ण है । काफी तान देने पर भी बीच में पर्दे का झोल नहीं जाता, अतः छत भद्दी दिखाई देती है । छत के लिए भी दो हिस्सों में फ्लाट बनाना चाहिये। आवश्यकता

के समय लोहे के मजबूत प्लेट से दोनों हिस्से एक में कस दिये जायँ। इस प्रकार पूरा फ्लाट तैयार हो जायगा। इस फ्लाट को तीन फुट की ऊँचाई पर फ्लाट से लम्बी और मजबूत दो पाइयों पर लटका देना चाहिये। यह काम पूरा हो जायगा तो रस्सी और कुप्पी के सहारे फ्लाट सहित पाइप ऊपर खींच कर, सरलतापूर्वक मचान के सहारे अभीष्ट ऊँचाई पर लटकायी जा सकेगी (**खाका : १८, पृ. ६६**)। इस विधिसे बनायी गयी छत सपाट और साफ दिखाई देगी। उसको लगाना और उतारना भी आसान होगा तथा भविष्य में भी आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग किया जा सकेगा।

अभिनय-स्थल का एक विभाजन आकर्षण-केन्द्र और रंगमंच की सजावट की दृष्टि से आवश्यक माना गया है। नाट्याभिनय एवं दृश्य-परिवर्तन के लिए भी यह अपेक्षित है। जहाँ दृश्य पीठ से काम नहीं लिया जाता और केवल चित्रित अथवा सादे पर्दे लगाये जाते हैं, वहाँ इस प्रकार की व्यवस्था पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है।

चित्रित अथवा सादे पर्दे लगा कर नाटक खेलना हो तो रंगमंच को इन तीन भागों में विभाजित करना चाहिये——**अग्रभाग, मध्यभाग** और **पृष्ठ भाग** (**खाका**

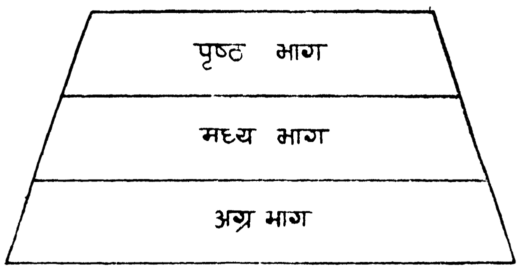

खाका : १९

१९)। अग्र-भाग पर नाटक के ऐसे दृश्य प्रस्तुत करने चाहिएँ, जिनमें पर्दे के अतिरिक्त अन्य किसी उपकरण की आवश्यकता न हो। इससे अग्रभाग पर अभिनय प्रस्तुत करते समय अग्रिम दृश्य साज-सज्जा को रंगमंच के मध्यम भाग पर लगाने का अवसर मिल जायगा। यही सुविधा पृष्ठभाग के उपयोग के पूर्व भी प्राप्त होगी। नाटक का एक अंक केवल तीन दृश्यों में विभाजित हो, तो पृष्ठभाग के उपयोग से पहले मध्यम-भाग पर होनेवाले अभिनय की समाप्ति पर रंगमंच पर पूर्ण अंधकार कर देना होगा और शीघ्रतापूर्वक सज्जा हटा देनी होगी; तब पर्दा हटा कर पृष्ठभाग का उपयोग किया

जा सकेगा । यदि पूरा अंक चार दृश्यों का हो तो पहला दृश्य अग्रिम भाग पर, दूसरा मध्यम भाग पर, तीसरा अग्रिम भाग पर और चौथा पृष्ठभाग पर संयोजित करने से दृश्य-परिवर्तन में कठिनाई न होगी ।

इस दृष्टि से रंगमंच का विभाजन करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि 'पर्दा' अभिनय-स्थल का विभाजन करनेवाली रेखा पर ही गिरे, ताकि अभिनेताओं को यह पता रहे कि उन्हें किस दृश्य में रंगमंच पर कहाँ तक बढ़ना चाहिये, अन्यथा यह भी हो सकता है कि मध्यम भाग पर अभिनय करनेवाले अभिनेता दृश्य का अंत होने पर भी अग्रिम भाग पर खड़े रह जायँ और अग्रिम भाग पर होनेवाले अभिनय का पर्दा गिरानेवाला व्यक्ति असमंजस में पड़ कर खड़ा रह जाय । थोड़ी-सी सावधानी रखने पर अनेक असुविधाओं से सहज ही बचा जा सकता है ।

रंगमंच के अभिनय-स्थल के विभाजन की यह प्रणाली यद्यपि बहुत पुरानी पड़ गयी है; तथापि यहाँ इसकी उपयोगिता अब भी बनी है; क्योंकि हमारे देश में रंगमंच पर लटकाने वाले पर्दों के उपयोग का प्रचलन अब भी बहुत अधिक है ।

रंगमंच-स्थल के विभाजन का दूसरा तरीका सारी दुनिया में प्रचलित है । इसके अनुसार रंगमंच छः भागों में विभाजित किया जाता है : (१) **अग्रिम दक्षिण भाग**, (२) **अग्रिम मध्य भाग**, (३) **अग्रिम वाम भाग**, (४) **दक्षिण पृष्ठ भाग**, (५) **मध्य पृष्ठ भाग** और (६) **वाम पृष्ठ भाग** (**खाका** : २०, पृ.७२)। इसकी व्यापक उपयोगिता भलीभाँति प्रमाणित हो चुकी है । 'समूहीकरण' पर विचार करते हुए विस्तार से इस की उपयोगिता का उल्लेख किया गया है । प्रस्तुत प्रसंग के अंतर्गत इसका महत्त्व यह है कि इससे डिजाइन के अनुरूप रंगमंच पर साज-सज्जा लगाने में सुविधा होती है और ठीक-ठीक यह समझा जा सकता है कि डिजाइन में दिखाई गयी कौन-सी वस्तु रंगमंच के किस भाग पर रहनी चाहिये, यह स्पष्ट होने पर नाटकीय अभिव्यंजना में उस वस्तु का महत्त्व भी छिपा नहीं रहता ।

उपर्युक्त छः भागों का विभाजन, उपयुक्त अनुपात की दृष्टि से बाहर की बड़ी पखवाइयों के ठीक पीछे लगी—दोनों ओर की पखवाइयों को मिलानेवाली समतल रेखा, तथा रंगमंच को दो समान भागों में विभक्त करनेवाली लम्ब रेखा के संयोग-विन्दु पर आधारित होता है । वास्तव में रंगमंच की सजा-सज्जा के लिए अपेक्षित

नाप-जोख का केन्द्र यह विन्दु अर्थात् वहाँ स्थान होता है, जहाँ उपर्युक्त समतल रेखा को

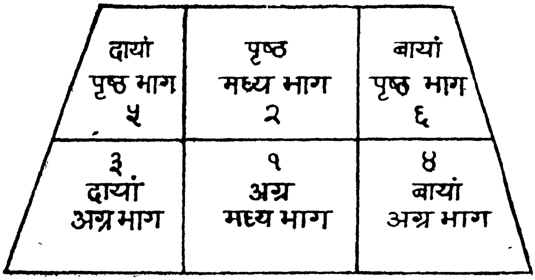

खाका : २०

लम्ब रेखा काटती है (**खाका २१**)। रंगमंच की सजावट से पहले इस विंदु का पता

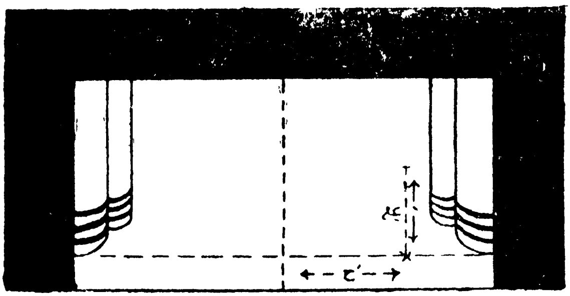

खाका : २१

अवश्य लगा लेना चाहिये। इस से भी दृश्य पीठ के डिजाइन में प्रयुक्त वस्तुओं का ठीक-ठीक स्थान समझने में बड़ी मदद मिलती है।

रंगमंच का विभाजन करनेवाली रेखायें स्थायी नहीं होतीं। वास्तव में अभिनेताओं को रंगमंच के विभाजित भागों का बोध कराने के लिए इनका प्रयोग होता है ताकि निर्देशक के संकेतानुसार ठीक स्थान पर पहुँचना उनके लिए सम्भव हो सके। इस तरह का अभ्यास केवल रंगमंच पर ही किया जा सकता हो, यह आवश्यक नहीं है, वह कमरे में भी किया जा सकता है।

अब यह समझना चाहिये कि रंगमंच का कौन-सा भाग आकर्षण-

केन्द्र की दृष्टि से क्या महत्त्व रखता है। 'समूहीकरण' विषय के अन्तर्गत इसकी विस्तृत विवेचना मिलेगी। यहाँ इतना जान लेना चाहिये कि क्रमानुसार आकर्षण-केन्द्र का स्थान इस प्रकार माना जाता है : (१) **अग्रिम मध्य भाग** (प्रबलतम) (२) **मध्यम पृष्ठ भाग**, (३) **अग्रिम दक्षिण भाग**, (४) **अग्रिम वाम भाग**, (५) **दक्षिण पृष्ठ भाग** और (६) **वाम पृष्ठ भाग**।

कहा जा सकता है कि इस तरह के विभाजन और आकर्षण-केन्द्र की दृष्टि से उपर्युक्त क्रम का वैज्ञानिक आधार क्या है ? उत्तर है—कोई नहीं। रंगमंच-विशारद लम्बे अर्से से इसको अपनाते रहे हैं। इसको उन्होंने उपयुक्त पाया है। प्रयोग में जो नतीजा हासिल होता आया है, वह कभी असंतोषप्रद नहीं रहा। श्री अलेक्जेण्डर डीन के कथनानुसार इसका कारण यही हो सकता है कि हम बायीं ओर से पढ़ने के अभ्यस्त होते हैं। निरीक्षण के प्रत्येक क्रम में मानसिक सुझाव इस अभ्यास पर ही आधारित होता है। यह विचार उपयुक्त मानना चाहिये। इसका भी कारण है। जहाँ दायीं ओर से पढ़ने का रिवाज है, वहाँ रंगमंच का आकर्षण-केन्द्र वाम-भाग माना जाता है (रंगमंच पर अभिनेता का वाम-भाग और दर्शक का दायाँ भाग (विभाजन संकेत को इस पर ध्यान रखते हुए समझना चाहिये)। इससे श्री एलेक्जेंडर डीन के कथन के औचित्य पर संदेह नहीं प्रकट किया जा सकता। सम्प्रति रंगमंच-विशारदों का मत यही है।

चौखटेदार रंगमंच के अलावा चक्रिल रंगमंच भी होता है जिसका उपयोग दर्शकों पर विस्मयकारी प्रभाव डालने या दृश्य-परिवर्तन के सुगम माध्यम के रूप में होता है। ऐसे रंगमंच पर दृश्य-पीठ का, जिसका उपयोग नाटक में चार-पाँच बार होने वाला हो, संयोजन स्थायी रूप में होता है। इस पर लगा सेट हटाया नहीं जाता। रंगमंच के जिस भाग पर यह लगाया जाता है, रंगमंच को घुमा कर वह भाग आँखों से ओझल कर दिया जाता है। इस प्रकार एक दृश्य गायब हो जाता है और दूसरा सामने आ जाता है। सेट सब यथास्थान पूर्ववत् लगे रहते हैं।

बड़े-बड़े चक्रिल रंगमंच अब बिजली के सहारे घुमाये जाते हैं, लेकिन इतने छोटे चक्रिल रंगमंच भी होते हैं, जो हाथ से घुमा दिये जाते हैं। इसका निर्माण सर्वप्रथम जापानियों ने किया था। उन्नीसवीं शती में जर्मनी में इसकी नकल हुई जहाँ से सारे यूरोप में इसका प्रचार हुआ। ●

समूहीकरण

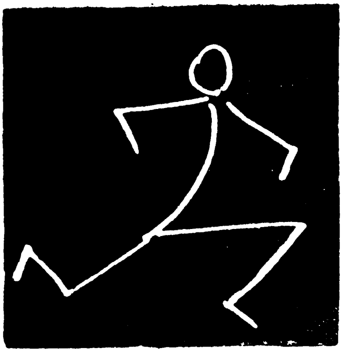

अनेकता में एकता कला का प्रधान तत्त्व है। संगीत-कला हो अथवा स्थापत्य-कला, चित्रकला हो अथवा मूर्तिकला—सब में एकात्मक तत्व द्वारा प्रतिबन्धित भिन्नता का ही प्राधान्य होता है। संगीत-स्वरमें चेतना तत्त्व होता है: 'आरोह और अवरोह।' इनका आलोड़न होता है मुख्य आकर्षण-केन्द्र। स्थापत्य-कला का वैशिष्टय प्रकट होता है विभिन्न रेखाओं के कलात्मक संयोग से और आकर्षण-केन्द्र होता है, इसका वह एकात्म रूप, जिसमें कलाकार प्राण का संचार करता है। चित्रकला की मोहकता छाया और प्रकाश के पारदर्शी परिधान में लिपटी रहती है और आकर्षण-केन्द्र होता है—इसका वह स्थल, जिस को चित्रकार सबके बीच में किन्तु सबसे पृथक् दिखलाना चाहता है। यही बात मूर्ति-कला के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

अभिप्राय यह है कि विरोध का आभास अथवा विकर्षण न होने पर आकर्षण-केन्द्र स्थिर नहीं हो सकता। यह तो स्पष्ट है कि नाट्याभिनय के दौरान अभिनेता अथवा पात्र-विशेष यदि दर्शकों का आकर्षण-केन्द्र नहीं बनता तो दर्शक एकाग्रचित्त और बद्ध दृष्टि से नाट्याभिनय नहीं देख सकते।

नाटक और रंगमंच पर आकर्षण-केन्द्र के संयोजन की क्रिया को समूहीकरण कहते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है—साहित्य, कला, संगीत सब में समूहीकरण-वैशिष्ट किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। निर्देशन की सफलता वस्तुतः यहीं प्रकट होती है। जिस पात्र पर निर्देशक, दर्शकों का ध्यान आकृष्ट कराना

चाहता है, उस पर यदि दर्शकों का ध्यान आकृष्ट नहीं होता तो समझ लना चाहिये कि समूहीकरण दोषपूर्ण है। इसी प्रकार यदि किसी दृश्य को देख कर दर्शक अकस्मात् चमत्कृत हो जाते हैं, तो भी समूहीकरण को दोषपूर्ण मानना चाहिये। पुन: यह भी कहा जा सकता है कि जिस दृश्य को देख कर दर्शकों को संवेदनशील होना चाहिये, उस दृश्य को दखकर यदि दर्शक तालियाँ बजाने लगते हैं, तो निर्देशन और समूहीकरण को दोषपूर्ण मानना चाहिये।

एकात्मक-तत्त्व द्वार प्रतिबंधित भिन्नता ही समूहीकरण है। आकर्षण-केंद्र का निर्धारिण, समूहीकरण का लक्ष्य होता है। मोटे तौर पर इस लक्ष्य को उपलब्ध करने के सात प्रमुख उपाय हैं :

(१) **आकर्षण केन्द्र की दृष्टि से रंगमंच के प्रबलतम भाग का उपयोग**,, (२) **प्रमुख अभिनय-स्थल का उपयोग**, (३) **विरोधाभास और प्रत्याकर्षण तत्त्व**, (४) **स्थल-स्तर**, (५) **विस्तृत भू-भाग**, (६) **पुनरावृत्ति** और (७) **दृष्टि-निपात क्रम।**

यह तो हुई लक्ष्य की पूर्ति के उपायों की बात। किंतु स्मरण रखना होगा कि इन उपायों की सफलता कुछ शर्तों पर आधारित होती है। निर्देशक ये शर्तें नहीं पूरी करेगा तो अपने लक्ष्य के सम्बंध में स्वयं ही भ्रांत रहेगा।

निर्देशक को पहले ही यह निश्चित कर लेना चाहिये कि किस दृश्य में कौन-सा अभिनेता अथवा अभिनय का कौन-सा अंग अथवा परिणाम आकर्षण का केंद्र होगा। दूसरी बात यह है कि आकर्षण-केंद्र का निर्धारिण एक-सा ही रूप देखने के फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली ऊब के निराकरण के लिए ही किया जाता है, अत: यह आवश्यक है कि आकर्षण-केंद्र के निर्धारिण की विधि को भी इस विकृति से मुक्त रखा जाय अर्थात् इसके लिए सुविधानुसार, अधिक से अधिक जितने भी उपायों का अवलम्बन किया जा सकता है, वे पहले ही निश्चित कर लिये जायँ।

इस पर मतभेद नहीं है कि एक-से रूप अथवा समानता में मूल्यांकन के गुण का अभाव होता है। फलत: स्वाभाविक अभ्यासगत, प्रवृत्तिमूलक आग्रह उत्तेजना-विहीन हो कर अपना उद्रेक खो बैठता है। इसको रसभंग की परिस्थिति मानते हैं। दो समानान्तर रेखाओं का अलंकार गुण आड़ीय लम्ब रेखाओं के संयोग के बिना प्रकट

P. G.

नहीं हो सकता अर्थात् दृश्य के गुणात्मक पहलू का प्रकटीकरण तुलनात्मक तत्त्वों के अभाव में सम्भव नहीं है या यह कहा जा सकता है कि बाह्यजगत् में दृष्टिगत, शक्तियों से परस्पर सम्बद्ध विरोधी गुणों के सिद्धांत का प्रयोजन मानव-जीवन की वृत्तियों के मूल्यांकन की दृष्टि से भी ग्राह्य होता है ।

सुंदर और असुंदर का भाव मनुष्य को कैसे होता है ? अंधकार का बोध प्रकाश से होता है और प्रकाश का बोध अंधकार से । दोनों को एक साथ देखकर व्यक्ति उसका मूल्यांकन करता है । यह मूल्यांकन परिस्थितियों अथवा व्यक्ति की तात्कालिक भावना पर आधारित होता है । यहाँ इसका उल्लेख मूल्यांकन के अवसर की उपलब्धि की दृष्टि से नहीं बल्कि रसोद्रेक की अनुभूति की ओर ध्यान आकृष्ट कराने के लिए किया गया है । नाट्याभिनय के समय ऐसा रसोद्रेक ही दर्शक को एकाग्र-चित्त करता है और वह आकर्षण-केंद्र की ओर स्वत: खिंच जाता है ।

समहीकरण के एक ही पहलू पर ध्यान रखनेवाला निर्देशक त्रुटि से बच नहीं सकता । मुख्य अभिनेता को, आकर्षण केंद्र की दृष्टि से रंगमंच के प्रबलतम भाग पर खड़ा करके ही निर्देशक लक्ष्य की पूर्ति नहीं कर सकता । ऐसा करते समय उसको दृश्य, वातावरण, पोशाक, अभिनय आदि पर भी ध्यान रखना होगा । रंगमंच के अग्रिम-दक्षिण भाग के पास यदि काले रंग का पर्दा लगा हो और यहीं निर्देशक काले रंग की पोशाक में ही प्रमुख अभिनेता अथवा पात्र को खड़ा कर दे, तो इस पात्र को आकर्षण-केंद्र बनाने का उसका प्रयास विफल हो जायगा; क्योंकि काले पर्दे के पास जो पात्र एकदम सफेद वस्त्र पहनकर खड़ा होगा, दर्शकों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होगा । विचार करने पर सहज ही ज्ञात हो जायगा कि इस तरह की भूल न केवल प्रमुख पात्र की महत्ता को समाप्त कर सकती है, बल्कि काला पर्दा लगाने का उद्देश्य भी नष्ट कर सकती है ।

जिस दृश्य में रंगमंच पर कई पात्र उपस्थित रहते हैं, उस दृश्य का संयोजन कुछ और कठिन होता है । ऐसे दृश्य में निर्देशक को न केवल अनेक पात्रों के बीच प्रमुख पात्र को आकर्षण का केंद्र बनाना पड़ता है, बल्कि इस बात पर भी ध्यान रखना पड़ता है कि प्रत्येक पात्र का संवाद दर्शकों को पृथक्-पृथक् सुनाई दे और प्रमुख पात्र किसी अन्य पात्र के संवाद के कारण दब न जाय । कौन पात्र बोल रहा है, इसकी जानकारी दर्शकों को हो, यह व्यवस्था भी निर्देशक को करनी ही चाहिये अन्यथा समूहीकरण दोष-

पूर्ण माना जायगा। ठीक यही सिद्धांत पात्रों को एक-दूसरे से पृथक् रखने की आवश्यकता के सम्बंध में भी लागू होता है। सभी पात्र एक ही रंग का वस्त्र धारण करके रंगमंच पर आ जायँ, तो इससे आकर्षण-व्यवस्था पर व्याघात होगा, सभी पात्रों के वस्त्रों के रंग भिन्न-भिन्न हों, लेकिन वे एक ही पंक्ति में खड़े कर दिये जायँ तो भी व्यवस्था दोष-पूर्ण होगी। एक-सी मुद्रा, एक-से व्यवहार, चलने-फिरने की एक-सी गति आदि के सम्बंध में भी यही बात कही जा सकती है। भिन्नता प्रत्येक जगह रहनी ही चाहिये। एकात्मक रूप, अभिनय और संवाद से उत्पन्न वातावरण प्रदान करता है।

यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि दृश्य विशेष में किसी एक ही पात्र को आकर्षण-केंद्र पर दृश्य के अंत तक बनाये रखा जाय। इस तरह तो नाटक की गति अवरुद्ध हो जायगी। कुशलता इसमें ही है कि आवश्यकतानुसार एक-एक पात्र को दर्शकों के सामने लाया जाय। जैसे-जैसे दृश्य का व्यापार आगे बढ़ता जाय, वैसे-वैसे नाट्याभिनय की गति भी बढ़ती रहनी चाहिये। समूहीकरण तभी सफल माना जा सकता है।

कभी यह भी आवश्यक हो सकता है कि अनेक पात्रों को समान रूप में दर्शकों के सामने रखा जाय। ऐसी दशा में रंगमंच के आकर्षण-स्थल (क्रमानुसार) को गौण मान कर निर्देशक अन्य उपायों से भी काम ले सकता है।

रंगमंच के अग्रिम भाग की उपयोगिता बराबर एक-सी नहीं बनी रह सकती। 'खाका: २०' में रंगमंच का चौथा भाग, पाँचवें भाग से अधिक सबल है लेकिन ध्यान रखना चाहिये कि एक पात्र यदि चौथे भाग पर हो और दूसरा पाँचवें भाग पर, तो दूसरा पात्र ही अधिक सबल सिद्ध होगा; क्योंकि इस दशा में दूसरे पात्र को पहले पात्र की ओर नहीं बल्कि पहले पात्र को दूसरे की ओर देखना होगा। उसकी दृष्टि अपने साथ-साथ दर्शकों के नेत्रों को भी दूसरे पात्र की ओर ही खींचती रहेगी। प्रथम पात्र प्रत्याकर्षण तत्त्व हो जायगा और फलतः द्वितीय पात्र आपसे आप आकर्षण केंद्र बन जायगा।

इस उदाहरण का उल्लेख यह बताने के लिए ही किया गया है कि सबलता की दृष्टि से रंगमंच पर क्रमानुसार आकर्षण-केंद्र के सम्बंध में जिस मान्यता का उल्लेख किया गया है, उसकी महत्ता समान स्थिति में होती है। एक-दूसरे से संघर्षरत दो बराबर के पात्रों में से पहला यदि 'खाका: २०' के रंगमंच भाग तीन पर और दूसरा रंगमंच भाग चार पर खड़ा हो, तो एक सीध में रहते हुए भी पहला पात्र दूसरे की अपेक्षा

अधिक सबल सिद्ध होगा। एक, तीन और चार पर खड़े पात्रों में भाग एक पर खड़ा पात्र अन्य दो पात्रों की अपेक्षा अधिक सबल होगा। भाग एक सर्वाधिक सबल स्थान है। रंगमंच के अग्रिम भाग के इस अंश पर अकेला खड़ा पात्र दर्शकों का ध्यान सहज ही अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है।

समूहीकरण - विषयक अन्य बातों की चर्चा करने से पहले यहाँ रंगमंच के विभाजित भागों की विशेषताओं की चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा। श्री हेनिंग नेम्स ने, रंगमंच-विशारदों का यह मत अपनी 'प्ले प्राडक्शन' नामक पुस्तक में दोहराया है कि पहला भाग सबल, शान्त और प्रभावपूर्ण है। इसका उपयोग तब होता है, जब विभिन्न शक्तियाँ आमने-सामने डंटती हैं।

दूसरा भाग दूरवर्ती, सबल और शांत होता है। बाद में रंगमंच के अग्रिम भाग तक पहुँचनेवाले दृश्य को शुरू करने के लिए इसका उपयोग होता है।

तीसरा भाग प्रगाढ़, सोत्साह, सबल होता है। यह भाग प्रेमी-प्रेमिका-मिलन तथा मानवीय एवं दयाभिव्यक्ति के दृश्यों के लिए अत्यंत उपयुक्त होता है।

चौथे भाग में तीसरे भाग के गुण हैं किंतु वह तीसरे की तुलना में कमजोर होता है। प्रणय दृश्यों में इसका भी उपयोग होता है; किंतु आम तौर पर यहाँ इर्ष्या, षड्यंत्र और दुराचरण आदि से सम्बद्ध दृश्य अभिनीत होते हैं।

पाँचवाँ भाग, छठवें के समान ही माना जाता है किंतु भयानक दृश्य और प्रेतलीला के उपयुक्त नहीं होता।

छठवाँ भाग दूरवर्ती, कोमल किंतु दुर्बल होता है और महत्त्वहीन दृश्यों में इसका उपयोग होता है लेकिन भयानक दृश्यों एवं प्रेतलीला के लिए भी यह उपयुक्त होता है।

आकर्षण-केंद्र-निर्धारण के जिन दो उपायों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उच्चस्तरीय व्यवस्था द्वारा आकर्षण-केंद्र के निर्धारण का उपाय उससे सर्वथा भिन्न है। यह कार्य बिलकुल सरल है और प्लैटफार्म अथवा ऊँचे चबूतरे के निर्माण के बिना भी यह सम्पन्न किया जा सकता है। कई पात्र रंगमंच पर हों तो उनमें उस पात्र को छाँट देने तथा अन्य पात्रों को समूहबद्ध करके फर्श पर बैठाने एवं प्रमुख पात्र को ऊँचे स्टूल या कुर्सी के हत्थे अथवा टेबुल पर बैठाने से वांछित फल प्राप्त हो जायगा। ऐसी दशा में दर्शकों का

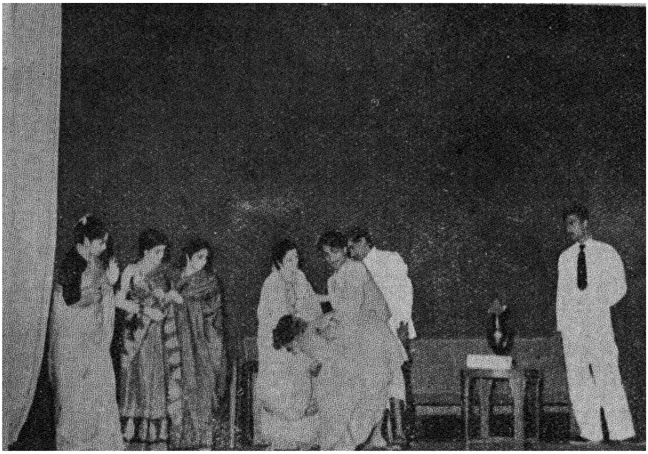

चित्र : ५

'उल्का' नाटक का एक अन्य दृश्य

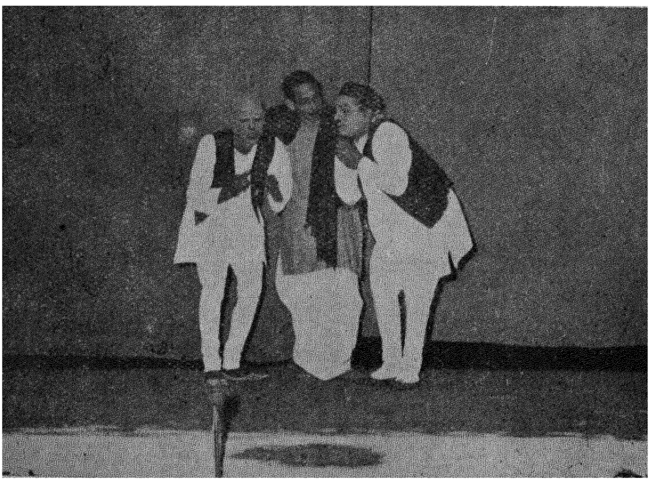

चित्र : ६

'ज्वारभाटा' नाटक का एक दृश्य

समूह की ओर से अकेले पात्र की ओर ध्यान अधिक आकृष्ट होगा । इस विधि का उपयोग दो-मंजिला सेट बनाकर अधिक सफलता से किया जा सकता है ।

विस्तृत भू-भाग का उपयोग चौथा उपाय है किंतु इस पर यदि सावधानी से अमल नहीं किया जाता तो न केवल प्रमुख पात्र गायब हो जाता है, बल्कि दृश्य से वास्तविक विषय-वस्तु का भी लोप-सा हो जाता है, क्योंकि त्रुटिपूर्ण समूहीकरण दर्शकों की आँखों को स्थिर नहीं रहने देता । चित्र संख्या ५ 'उल्का' नाटक के एक दृश्य का फोटो है जिसमें ऐसी ही अवस्था नजर आती है । नाटक के सही निर्वाह के अनुसार रंगमंच के मध्य भाग को आकर्षण-केंद्र बनना चाहिये था किंतु असावधानी के कारण दक्षिण भाग आकर्षण-केंद्र बन गया । वाम-भाग में खड़े पात्र तथा मध्य भाग के पात्रों के बीच काफी अंतर आने तथा इस पात्र के एकाकी होने के कारण, आकर्षण का बटवारा इधर भी हुआ है । इस तरह का संयोजन दृष्टिक्रम में व्यवधान उत्पन्न करता है । वास्तव में तीनों महिला पात्रों को भी बायें पृष्ठ-भाग में होना चाहिये था और मध्यम भाग पर नजर आने वाली महिला को कुछ झुकना चाहिये था । यह विचार रेखाओं के समूहीकरण के सिद्धांत पर आधारित है । यह माना जाता है कि लम्ब रेखा स्थिर, समतल रेखा शांत और आड़ी रेखा सक्रिय होती है । इसको यों समझा जा सकता है कि सीधी-समतल सड़क पर चलती हुई मोटर कार का फोटो खींचा जाय तो फोटो में कार स्थिर नजर आयेगी, किंतु किसी ढाल पर चढ़ती हुई कार का फोटो इसके विपरीत होगा । इस फोटो में नजर आनेवाली कार स्थिर नहीं किंतु गतिमान नजर आयेगी ।

पुनरावृत्ति का उपाय तभी प्रभावकारी सिद्ध हो सकता है, जब त्रिपरिमाणात्मक दृश्य के पृष्ठ-भाग में दरवाजा हो । इससे प्रवेश और गमन की व्यवस्था करके पात्र को आकर्षण का केंद्र बनाया जा सकता है । अगल-बगल की दीवारों के प्रवेश द्वार यह सुविधा प्रदान नहीं कर सकते । रंगमंच के पृष्ठ-भाग दरवाजे से ही बाहर जानेवाला पात्र दर्शकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकता है ।

इस उपाय का दूसरा प्रकार प्रमुख पात्रों को आकर्षण-स्थल को बारबार हटाना और शीघ्रता के साथ बार-बार आकर्षण स्थल पर लाना होता है । किसी कुर्सी, मेज अथवा ऐसी ही किसी अन्य वस्तु के पास भी प्रमुख पात्र को खड़ा करके वांछित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है ।

दृष्टि-निपात-क्रम, आकर्षण-केंद्र निर्धारण की कोणात्मक विधि है। कोण या तो पात्रों की दृष्टि-रेखा से बनता है या रंगमंच के अंदर की प्रथम दो पखवाइयों को मिलानेवाली समतल रेखा के एक छोर से पंक्तिबद्ध रूप में आड़े खड़े पात्रों से बनने

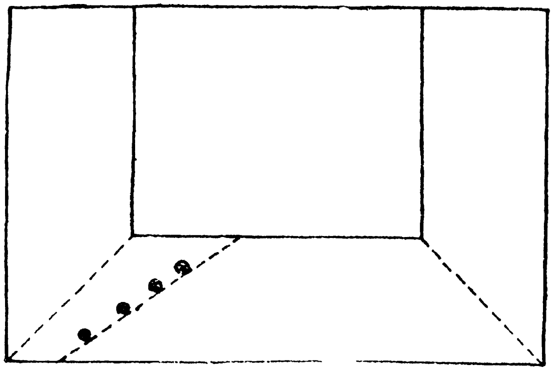

खाका : २२

वाली रेखा से अथवा समतल रेखा के दो विन्दुओं से पंक्ति बद्ध रूप में पृष्ठ भाग के मध्य विंदु तक खड़े पात्रों से बनता है (**खाका : २२**)। सिद्धांत यह है कि आकर्षण-केंद्र पर दृष्टिपात का माध्यम आड़ी रेखा हो।

कभी-कभी सड़क पर चलते समय दिन में अकस्मात् तारा देखने के कारण रुकनेवाले व्यक्ति को टकटकी लगाकर आकाश की ओर ताकते अनेक लोगों ने देखा होगा। इसका परिणाम क्या होता है? कुछ ही देर में और भी अनेक राहगीर आकाश की ओर ताकनेवाले व्यक्ति का अनुकरण करने लगते हैं। अनुकरणका यह सिद्धांत रंगमंच पर समूहीकरण के मामले में बिलकुल फिट बैठता है। कुछ पात्र मिल कर एक साथ रंगमंच पर दूर खड़े किसी अन्य पात्र को देखना आरम्भ कर दें तो दर्शक भी उधर ही देखने लगेंगे।

अब तक प्राय: एक पात्र को ही आकर्षण-केंद्र बनाने की चर्चा की गयी है किंतु पहले यह कहा जा चुका है कि कभी-कभी एक साथ दो पात्रों अथवा कई पात्रों को दर्शकों की निगाहों में रखना आवश्यक हो सकता है। दो पात्रों को एक-साथ आकर्षण-केंद्र बनाने अथवा दर्शकों की दृष्टि-परिधि में रखने का उल्लेख उदाहरण के रूप में पहले

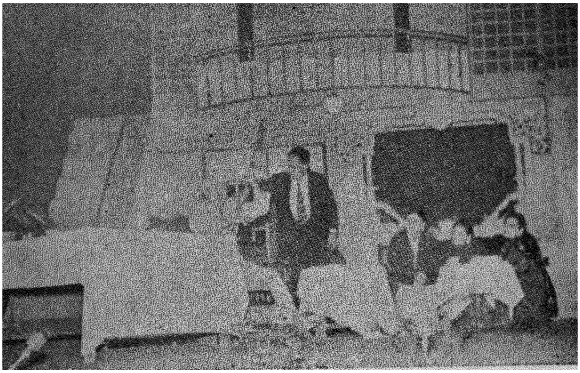

चित्र : ७

'अक्लमन्दी' नाटक का यह दृश्य 'समूहीकरण' का एक अच्छा नमूना है

●

चित्र : ८

'अक्लमन्दी' नाटक का यह दृश्य 'समूहीकरण' का खराब नमूना पेश करता है

दृष्टिगत होता है; क्योंकि चित्र के अन्य पात्र भी वैद्य जी की ओर ही दृष्टि घुमाये नजर आते हैं ।

चित्र संख्या ७, ८ और ९ तीन पृथक्-पृथक् विधियों के नमूने हैं। इनमें जो व्यवस्था दृष्टिगत होती है, समूहीकरण व्यवस्था के अन्तर्गत वह विशेष समस्या के रूप में प्रचलित है । इस समस्या के समाधान का उपाय यह है कि निर्देशक अपेक्षित दृश्य की कल्पना भली-भांति कर ले और डिजाइन तैयार करनेवाले के दिमाग में उसको बैठा दे ।

यह अनुभव सिद्ध तथ्य है कि सामहिक भोजन, अदालत, दरबार आदि के दृश्य का समहीकरण प्राय: बहुत कठिन होता है; क्योंकि इन दृश्यों में पात्रों के साथ-साथ 'सेटिंग' पर भी ध्यान देना पड़ता है । यदि एक टेबुल के चारों ओर चार व्यक्तियों को बैठाने की समस्या हो तो प्रचलित टेबुल का उपयोग करने पर एक व्यक्ति को ऐसी जगह बैठना पड़ सकता है, जहाँ दर्शकों को उसका चेहरा नहीं बल्कि पीठ दिखाई देगी । ऐसी दशा में टेबुल चौकोर हो तो उसको तिरछा लगाना चाहिये । इससे कुछ सुविधा हो जायगी और रंगमंच के अग्रिम भाग की ओर बैठाये जानेवाले पात्र के मुख का पार्श्व भाग दर्शकों के सामने ले आया जा सकेगा । यदि चौकोर टेबुल के स्थान पर गोल टेबुल इस्तेमाल किया जाय तो काम और आसान हो जायगा । इस प्रकार एक ही समस्या हल होगी। खाना परोसने, खाली बर्तन हटाने, परोसनेवाले को दर्शकों की निगाह के सामने रखने आदि पर भी उचित ध्यान न देने पर टेबुल को सावधानी से रखने में लगाया गया सारा परिश्रम चौपट हो जायगा । अवश्य ही ऐसी दशा में वस्त्र-सज्जा, पोशाक आदि पर ध्यान न रखने पर भी त्रुटि उत्पन्न होगी। यह पहले ही बताया जा चुका है कि एक रंग के वस्त्र समूहीकरण को प्राय: उभड़ने नहीं देते । चित्र संख्या १० 'उल्का' नाटक के एक दृश्य का चित्र है । नर्स भी सफेद कपड़ा पहने है और डाक्टर भी । पृष्ठ-भाग भी बिलकुल सफेद है और बच्चे को लपेटनेवाला कपड़ा भी । फलत: ऊब पैदा करनेवाली समानता पैदा हो गयी है और दृश्य जानदार नहीं दिखाई देता । अत: यह आवश्यक है कि भोजन के टेबुल के चारों ओर जो पात्र बैठाये जायँ, वह पृथक्-पृथक् दिखाये दें; टेबुल पर पड़ा एक-एक सामान दृष्टिगत हो। यदि टेबुल-क्लाथ के रंग में प्लेट-तश्तरियों का रंग मिल गया तो भोजन के टेबुल की सज्जा उभड़ न सकेगी ।

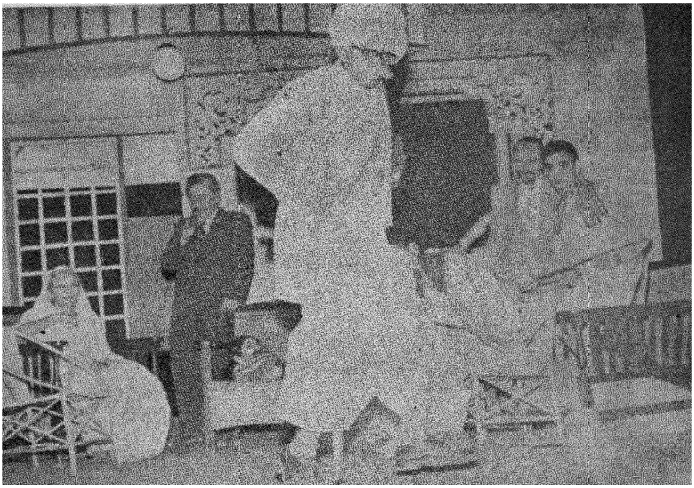

चित्र : ९—'अक्लमन्दी' नाटक में चश्माधारी वैद्यजी सचमुच आकर्षण का केन्द्र बन गये हैं

चित्र : १०

'उल्का' नाटक एक दृश्य—जिसमें नर्स, डाक्टर और बच्चे पर लपेटे गये कपड़े का रंग सफेद हो जाने के कारण, उक्त दृश्य जानदार दिखायी नहीं देता

रंगमंच पर अदालत के दृश्य का संयोजन प्रायः दोषपूर्ण ही पाया गया है। कभी वकील का चेहरा छिप जाता है और कभी अपराधी का, कभी जूरी का और कभी अदालत में उपस्थित दर्शकों का। इसका कारण यही है कि न्यायाधीश का स्थान रंगमंच के मध्यम पृष्ठ भाग पर रखा जाता है; फलतः अन्य सक्रिय पात्र उधर ही देखते हैं। इससे न्यायाधीश का स्थान और उसका महत्व उपयुक्त ढंग से सामने आ जाता है, किंतु शेष पात्र अव्यवस्थित हो जाते हैं। रंगमंच के अग्रिम दक्षिण भाग पर न्यायाधीश का स्थान निश्चित करके तथा रंगमंच को शेष अग्रिम भाग को अधिक से अधिक खाली रखकर उपर्युक्त दोष काफी हद तक दूर किया जा सकता है।

दरबार का दृश्य और भी कठिन होता है, क्योंकि अदालत के दृश्य की व्यवस्था में परिवर्तन की जो सुविधा उपलब्ध है, उससे दरबार के दृश्य में लाभ नहीं उठाया जा सकता। नरेश का स्थान सर्वोच्च और प्रमुख होना ही चाहिये अन्यथा दर्शकों की संस्कारबद्ध भावना उसको ग्रहण नहीं करेगी। दरबार में नरेश की उपस्थिति में बोलनेवाले व्यक्ति को नरेश की ओर देखकर अदब से बोलना ही चाहिये, अन्यथा दृश्य त्रुटिपूर्ण हो जायगा। मुसीबत यह होती है कि दरबार के नियम के अनुसार कोई आगे-पीछे हट-बढ़ भी नहीं सकता है। यह कठिनाइयाँ ऐसी हैं, जिनका रंगमंच पर उपयुक्त समूहीकरण की दृष्टि से, समुचित हल नहीं निकाला जा सका है। स्थल-स्तर को ऊँचा करने की विधि तथा दृष्टि-निपात-क्रम विधि का संयोग दृश्य-विधान में कुछ सहायक हो सकता है। दरबार के दृश्य में समूहीकरण की व्यवस्था करते समय इस पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दृश्य-विशष का मुख्य-पात्र एक-दो वाक्यों का संवाद कह कर ही चुप हो जाता है। दृश्य के अंत तक ऐसे पात्र को निरंतर आकर्षण का केन्द्र बनाये रखने का काम कम टेढ़ा नहीं होता। इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए प्रमुख पात्र को अन्य पात्रों के मध्य में खड़ा किया जा सकता है। इसके पश्चात कथोपकथन का क्रम आर-पार रखने से समस्या हल हो जायगी, क्योंकि एक ओर के पात्र की ओर से दूसरी ओर के पात्र की ओर दृष्टि घुमाते समय दर्शक मध्यवर्ती प्रमुख पात्र को एक बार अवश्य लेख लेगा। प्रमुख पात्र गदि अन्य पात्रों के बीच में खड़ा न किया जा सकता हो और दृश्य संयोजन की उपयुक्तता की दृष्टि से उसको पृथक

रखना आवश्यक हो तो प्रत्याकर्षण तत्त्वविधि से काम लेना चाहिये । इसका जो परिणाम निकलेगा वह काफी हद तक संतोषजनक होगा ।

समूहीकरण की उपर्युक्त विधियों का प्रयोग तभी सफल होगा, जब दृश्य-विधान में संतुलन और स्थिरीकरण पर भी ध्यान रखा जायगा । यदि रंगमंच के एक ही भाग पर पात्रों की भीड़ जुटा दी जाय, तो रंगमंच का खाली भाग खटकेगा और दृश्य को उभड़ने नहीं देगा । अतः ऐसी दशा में भीड़ के भार का संतुलन करने का प्रबंध भी समूहीकरण के अन्तर्गत ही माना जाता है । यह ऐसी आवश्यकता है कि जिसकी पूर्ति न होने पर न केवल दृश्य भोंड़ा मालूम पड़ता है; बल्कि आकर्षण-केन्द्र का विधान भी असंतुलित मालूम होता है ।

संतुलन का यह सिद्धान्त उस तराजू की दशा पर आधारित मानना चाहिये जिसके एक पलड़े पर भार पड़ा हो और दूसरा खाली हो । जाहिर है कि जिस पलड़े पर भार होता है, वह दब जाता है और खाली पलड़ा उठ जाता है । यदि भार से लदे पलड़े को उठाना अभीष्ट हो तो उसको सहारा देना ही होगा । रंगमंच के दो समान भाग एक तराजू के दो पलड़े मान लिये जायँ तो संतुलन की महत्ता स्पष्ट हो जायगी। निर्देशक जिस भाग पर पात्रों की भीड़ जुटाता है, अभिनय और दृश्य-विधान की उपयुक्तता की दृष्टि से उसको उठना चाहिये लेकिन उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार वह दब जायगा । इस उलटे प्रभाव का अंत किसी न किसी तरह के सहारे से ही सम्भव होगा । यह सहारा या तो तीव्र गतियुक्त अभिनय या साज-सज्जा के माध्यम से उत्पन्न किया जा सकता है । ऐसा करते समय 'समानता के कारण पैदा होनेवाली ऊब' पर ध्यान भी रखना चाहिये अन्यथा समूहीकरण का मूलाधार ही डगमगा जायगा ।

स्थिरीकरण की उपयोगिता इससे संयुक्त है । रंगमंच के भाग-विशेष का उपयोग लगातार कई दृश्यों में बार-बार होते रहने पर, शेष भाग दर्शकों की दृष्टि से उपेक्षित-सा हो जाता है । ऐसी दशा में अकस्मात कोई दृश्य पूरे रंगमंच पर आ जाता है तो वह उड़ता-सा लगता है । ऊपर बताया जा चुका है कि असंतुलन की दशा में भी यही विकृति उत्पन्न होती है । उन नाटकों में जिनमें दरबार, अदालत, भीड़ या रास-रंग के दृश्य दो-तीन पात्रों के कई दृश्यों के पश्चात् आते हैं, इस तरह की विकृति उत्पन्न होने की सम्भावना बराबर बनी रहती है । अतः समूहीकरण की व्यवस्था

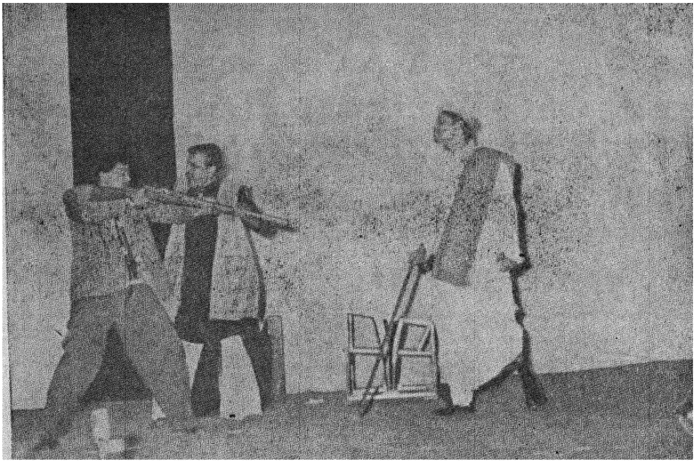

चित्र : ११

'ज्वारभाटा' नाटक का एक अन्य दृश्य

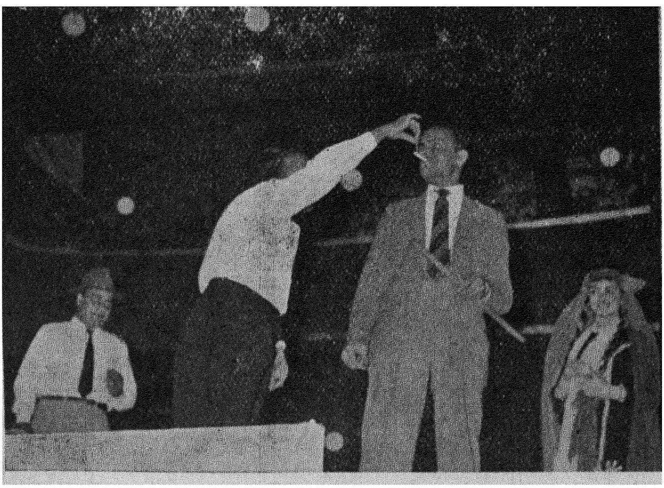

चित्र : १२

'उल्का' नाटक का एक दृश्य

के साथ-साथ स्थिरीकरण पर भी ध्यान रखना चाहिये। कुछ देर तक रंगमंच के कुछ भाग के निरंतर उपयोग के बाद ज्योंही पूरे रंगमंच का उपयोग किया जाने लगेगा, त्योंही यह समस्या सामने आ जायगी। अभिप्राय दृश्य को स्थिर रखने से है, जो दृष्टिपात के अभ्यास में सहसा व्यतिक्रम के कारण डगमगाता-सा प्रतीत होने लगता है। यह दोष उपयुक्त अवसर पर रंगमंच के अग्रिम दक्षिण भाग अथवा अग्रिम वाम-भाग अथवा दोनों के समुचित उपयोग के द्वारा दूर किया जा सकता है। वाम-भाग की अपेक्षा दक्षिण-भाग अधिक प्रबल होता है, अतः केवल उसका उपयोग भी वाम-भाग के उपयोग की अपेक्षा अधिक अपेक्षित फल प्रदान कर सकता है। ऐसे अवसर पर रेखाओं के समूहीकरण के विधान पर ध्यान रखने से कार्य सरल हो जायगा। दृष्टि की यह प्रकृति है कि रेखा के एक छोर पर पड़ने के बाद दूसरे छोर तक पहुँचने से पहले वह पहले छोर से दूसरे छोर की ओर बराबर सरकती रहती है।

अंततः नाट्याभिनय में गुण-दोष की विवेचना का आधार 'सौन्दर्य' हो जाता है। निर्देशक की रचना दर्शकों की आँखों को अच्छी लगती है और उसको देख कर चित्त प्रसन्न होता है तो निर्देशक सफल मान लिया जाता है, अन्यथा उसकी कटु आलोचना होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पात्रों का समूहीकरण रंगमंच पर प्रस्तुत सम्पूर्ण चित्र का एक अंग मात्र होता है। पात्रों का समूहीकरण ठीक हो किंतु टेबुल, कुर्सी, आलमारी, शीशा, घड़ी आदिका समूहीकरण विकृत हो और अभिनय दृश्य से उत्पन्न वातावरण के अनुकूल न हो, तो केवल पात्रों का निर्दोष समूहीकरण अपना अस्तित्व सुरक्षित न रख सकेगा।

रंगमंच पर प्रस्तुत चित्र में लय-ताल बद्ध संगीत मुखरित होता प्रतीत होना हा चाहिये। थोड़ी-सी असावधानी भी कभी-कभी गहरी विकृति उत्पन्न कर देती है। पात्रों के समूहीकरण की दृष्टि से चित्र संख्या ११ में कोई दोष नजर नहीं आयगा (यह चित्र 'ज्वार-भाटा' नामक नाटक के एक दृश्य का है)। फिर भी यह निर्दोष नहीं है। रंगमंच-सज्जा में दोष के कारण यह उतना अधिक प्रभावोत्पादक नहीं बन सका है, जितना बन सकता था। पर्दे का काला भाग यदि छड़ीधारी पात्र के पीछे होता और काले पर्दे के स्थान पर सफेद पर्दा होता, तो यह दृश्य खूब उभड़ सकता था। छड़ीधारी पात्र के पास पड़ी कुर्सी का महत्त्व इस चित्र में नहीं निखर सका और दृश्य को संतुलित

करने का उसका कार्य पर्दे के सफेद रंग के कारण बिगड़ गया है। इसी प्रकार बंदूकधारी पात्र को जिस हदतक आकर्षण केन्द्र बनना चाहिये था, उस हद तक वह नहीं उभड़ सका है क्योंकि रंगीन न होने के कारण काले पर्दे के सामने उसकी पोशाक नहीं उभड़ पायी है। फलतः दृश्य संगीत-स्वर-विहीन हो गया है। यह दोष पात्रों के समूहीकरण में गलती के कारण नहीं किंतु पर्दा लगाने में सावधानी से काम न लेने के कारण उत्पन्न हुआ है।

जिस प्रकार रंगमंच की सजावट में दोष के कारण, उपयुक्त समूहीकरण (पात्र) के बावजूद, दृश्य दब जाता है, उसी प्रकार अभिनय-दोष के कारण भी उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। उपयुक्त समूहीकरण के बावजूद केवल अभिनय-दोष के कारण नष्ट होनेवाला दृश्य चित्र संख्या १२ में देखा जा सकता है (उल्का नाटक का दृश्य)। सिगरेट में दियासलाई लगाने वाले पात्र ने अपना मुँह छिपा कर ऐसी विकृति उत्पन्न कर दी है, जो आँखों को खटकती ही नहीं है, बल्कि आँखों में चुभती भी है। सिगरेट को जलाने का काम उसने बाएँ हाथ से किया होता, तो यही चित्र बोलता-सा नजर आने लगता। अभिनय-दोष के कारण यह पंगु-सा दिखाई देता है और बाँह से छिपा मुख यह बोध कराता है मानों किसी ने दृश्य के एक नेत्र पर चूने में डूबी कूँची फेर दी हो।

अभिनय स्वतः विशद विषय है। विस्तार से उस पर अलग विचार प्रकट किया गया है। यहाँ उसका उल्लेख पुनः यह कथन दोहराने के लिए किया गया है कि समूहीकरण स्वतः कुछ नहीं है—यह विभिन्न उपकरणों को मिला कर लय-ताल बद्ध, सुरुचिपूर्ण और नेत्ररंजक दृश्य-रचना की प्रक्रिया मात्र है। इस सम्बन्ध में पहले पृथक-पृथक जिन आवश्यकताओं की चर्चा की गयी है, वह सब एक शृंखला की भिन्न-भिन्न कड़ियाँ अथवा उपर्युक्त प्रक्रिया के पृथक-पृथक अंग हैं। उनका उल्लेख यह बताने के अभिप्राय से ही किया गया है कि कलाकार पूरे दृश्य के अंश-विशेष को ऊँचा दिखाने के लिए 'विरोधाभास' का सहारा लेता है ताकि यह स्पष्ट हो सके कि दृश्यवस्तु को रूप प्रदान करनेवाली विभिन्न शक्तियाँ एक-दूसरे से कितनी भिन्न हैं।

रंगमंच पर प्रस्तुत किये जानेवाले दृश्य और इस दृश्य को देखनेवाले दर्शकों पर पड़नेवाले प्रभाव के संदर्भ में उपर्युक्त सर्वमान्य सिद्धान्त का प्रतिपाद्य रूप मनोदशा से सम्बद्ध होता है क्योंकि रंगशाला में महत्त्वपूर्ण भावनाओं का उद्भव मनोदशा

के गर्भ से ही होता है। एक ही दिशा में साथ-साथ गतिशील धारणाएं, विचार और संस्कार इनकी खूराक है और यह इनकी शक्ति के संरक्षक होते हैं। असम्बद्ध पोषण-तत्त्व विकर्षण उत्पन्न करते हैं। ऐक्य-बोध इनको स्वीकार नहीं करता और वह ऐसे प्रत्येक तत्त्व को, जो सौंदर्याभिव्यक्ति की दृष्टि से अनुपयुक्त होता है, दृश्य-रचना के क्षेत्र के बाहर निकाल कर फेंक देता है। ऐक्य के प्रतिबंध की सार्थकता यहीं सिद्ध हो जाती है। प्रतिबंध का यह क्रम नाट्याभिनय के निर्वाह का रूप निर्धारित करने की निर्देशक की आरम्भिक जिम्मेदारी से ही आरम्भ हो जाता है क्योंकि इस समय ही निर्देशक नाटक के प्रमुख पात्र अथवा पात्रों की मनोदशा की कल्पना करके दृश्यक्रम के अनुरूप शैली को ग्रहण करता है।

श्री सैमुअल सेलडेन के कथनानुसार रंगमंच पर सुनाई देने और दिखाई देनेवाली प्रत्येक वस्तु किसी न किसी रूप में एक ही आकाँक्षा से सम्बद्ध होती है। यह बिलकुल ठीक है; क्योंकि सौंदर्य-विज्ञान की दृष्टि से स्वर-ऐक्य अथवा 'सुमेल' अथवा एकस्वरता (हारमोनी) का आधार यही है। एक ही विपत्ति के शिकार दो व्यक्ति एक-सी दशा में एक-दूसरे से मिलते हैं, तो उनके हृदयमें एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता भी सहज ही पैदा हो जाती है। अच्छे नाटकों में विभिन्न दृश्यों को सुरीला अनुक्रम उपर्युक्त प्रकार की मानवीय भावना पर ही आधारित होता है। इसके समुचित दर्शन के अभाव में समूहीकरण की एक भी प्रक्रिया दुरुस्त न रह सकेगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि समूहीकरण प्रक्रिया को दुरुस्त रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि नाट्याभिनय का एक-एक चरण आदि से अन्त तक, नेत्ररंजक रूप में एक-दूसरे से निरंतर मिलता रहे। रसभंग की स्थिति उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। कोई ऐसा क्रम नहीं सामने आना चाहिये, जो दृश्य और अभिनय को देखनेवाले दर्शक का ध्यान अथवा दिमाग दूसरी दिशा में उड़ा दे। इस तरह का व्यतिक्रम सम्भव है दर्शक की आँखों के सामने उस नाट्य-व्यापार को ही न आने दे, जो निर्देशक की दृष्टि में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि असम्बद्ध व्यापार भी रंगमंच का कारण होता है। इस प्रकार का विपर्यय भी अवाँछनीय होता है, यह पहले ही कहा जा चुका है, अतः यह भी समूहीकरण प्रक्रिया में बाधक माना जाना चाहिये।

यह मानना ही होगा कि जिस प्रकार रेखाओं के समुचित समूहीकरण और इनकी वृत्तियोंसे अनभिज्ञ व्यक्ति वास्तविक चित्रकार नहीं हो सकता, उसी प्रकार नाटक की विभिन्न वृत्तियों और उसके विभिन्न व्यापार से अनभिज्ञ व्यक्ति निर्देशक नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति यदि निर्देशक बन जाता है, तो वह समूहीकरण-विधान पर अमल करने में सफल नहीं होता।

समूहीकरण को यथासाध्य ठीक रखने के लिए उसका भी खाका तैयार किया जाना चाहिये। इस तरह का खाका तैयार करके निर्देशक सहज ही अपने विचारों को मूर्त कर सकता है। ऐसी दशा में यदि कोई विकृति होगी तो निर्देशक को उसमें सुधार करने का अवसर मिल जायगा।

खाका, पात्रों को सामने रख कर वरीयता-क्रम से तैयार किया जाना चाहिये। दृश्यों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। इस तरह की सतर्कता अवाँछनीय विपर्यय की स्थिति उत्पन्न नहीं होने देगी।

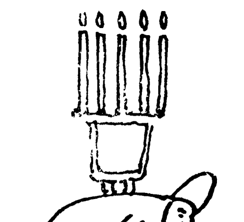

दृश्य-विधान

●

रंगमंच-विषयक दृश्य-विधान से अभिप्राय दृश्य-रचना, दृश्य-रचना में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों एवं अन्य साज-सज्जा का उपयोग होता है। मंजा हुआ और अनुभवी निर्देशक इस मामले में कभी जल्दबाजी नहीं करता। श्री वाख्तानगोव एक-एक दृश्य-पीठ का चित्र अनेक बार तैयार कराते थे—अनेक चित्र तैयार कराते थे और तब जिस चित्र को अपनी कल्पना के अनुरूप पाते थे, उसको स्वीकार करते थे। इस प्रकार का धैर्य ही वास्तव में रूस में रंगमंच के प्रबल विकास का कारण हुआ है।

जबतक निर्देशक स्वयं अपने मस्तिष्क में अपेक्षित दृश्य का चित्र बैठा नहीं लेगा, तब तक वह उसकी रचना भी नहीं कर सकेगा। पश्चिम के अनेक नाट्यकार अपने नाटकों में दृश्य-विधान का उल्लेख भी विस्तार से करते हैं। इसके बावजूद रंगमंच पर दृश्य-रचना से पूर्व उसका चित्र तैयार करने की प्रणाली ही वहाँ प्रचलित है। कारण यह है कि नाट्यकार चाहे जितने भी विस्तार से दृश्य-विधान का उल्लेख करे, वह रचना में सहायक नहीं हो सकता। रचना आधारित होती है रंगमंच पर उपलब्ध भूमि पर। सभी रंगमंच एक से नहीं होते। दूसरी बात यह है कि नाट्यकार यही लिख सकता है कि अमुक दृश्य में अमुक प्रकार से चार कुर्सियाँ और एक टेबुल लगाना चाहिये। यह निर्णय तो निर्देशक को ही करना होगा कि निर्दिष्ट प्रकार से चार कुर्सियाँ और टेबुल किस स्थान पर लगाना उपयुक्त होगा। यह बात वह डिजाइनर को बतायेगा और डिजाइनर सौंदर्य की दृष्टि से आनुपातिक क्रम एवं संतुलन पर ध्यान रखते हुए निर्देशानुसार चित्र तैयार करेगा। पुनः निर्देशक को नाप-जोख कर के यह देखना होगा कि डिजाइनर ने कुर्सी कहाँ लगायी है। इतने परिश्रम के बाद ही कुर्सी का स्थान निश्चित होगा।

मस्तिष्क में दृश्य का चित्र बैठाते समय निर्देशक गह बात भूलता नहीं है कि जो नाटक वह प्रस्तुत करनेवाला है, उसके सम्बन्ध में दर्शकों की सबसे पहली धारणा, पर्दा उठने के साथ, दृश्य को ही देखकर उत्पन्न होगी । गदि पहले ही भ्रम उत्पन्न हो जाता है तो काफी समग तक उसका प्रभाव बना रहता है । इससे यह समझा जाता है कि उपयुक्त मनोदशा (दर्शकों की) के प्रस्फुटन की दृष्टि से दृश्य कितना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है ।

विस्तार की बातों की चर्चा से पहले दृश्य की उपयोगिता के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अनुपयुक्त न होगा । मूल बात यह है कि दृश्ग पृष्ठभूमि का काम करता है । वातावरण पर पृष्ठभूमि का भी प्रभाव पड़ता है । सच तो यह है कि रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्यपीठ, अथवा अन्य उपायों द्वारा प्रस्तुत दृश्य, पात्रों के प्रवेश के पहले ही दर्शकों को बहुत कुछ बता देता है । गह वातावरण की ही महत्ता है और रंगमंच पर वातावरण आधारित होता है दृश्य पर, अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि दृश्य यदि नाटक की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं रहता तो दर्शक सहज ही भ्रम में पड़ जाते हैं । दृश्य दिखाया जा रहा हो महल के प्रकोष्ठ का और निवास उसमें दिखाया जा रहा हो फटेहाल व्यक्ति का तो दर्शक आप से आप यह सोचने लगेगा कि महल में कोई चोर घुसा है, या फरियाद लेकर कोई गरीब वहाँ पहुँचा है अथवा कोई राजा ही परिस्थितियों के चक्कर में फंस कर रंक हो गया है । जब तक कथानक का एक भाग स्पष्ट नहीं हो जाता, तब तक दर्शक इस ऊहापोह में ही पड़ा रहता है । निश्चय ही, गह विकार नाटक के प्रति दर्शक की सम्मति को प्रतिकूल रूप में प्रभावित करता है ।

दृश्य सुन्दर और प्रभावोत्पादक होना चाहिये किन्तु इतना अधिक सुन्दर नहीं होना चाहिये कि दर्शक उसको ही देखता रह जाय । इसको देखकर दर्शक सब कुछ भूल जाय तो समझ लेना चाहिये कि दृश्य गलत और त्रुटिपूर्ण है क्योंकि रंगमंच पर प्रस्तुत दृश्य का काम पृष्ठभूमि को प्रकट करना, वातावरण को दर्शाना और नाट्गाभिनय में अभिव्यक्त प्रवृत्तियों को मुखरित करना होता है । यह ऐसी बात है जिसकी ओर ध्यान कम जाता है । शौकिया नाट्य-संस्थाओं के निर्देशक जिनके पास साधनों की कमी नहीं होती——दृश्य को ही अधिकाधिक सुन्दर बनाने में अपनी सारी विद्या-बुद्धि लगा देते हैं । परिणाम यह होता है कि वह 'ताजमहल' तो नहीं ही खड़ा कर पाते, दृश्य को नाटक की

आवश्यकताओं के अनुरूप भी नहीं बना पाते। यदि यह हृदयंगम कर लिया जाय कि दृश्य का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता, वह आनुषंगिक होता है तो दृश्य-रचना के मामले में भूल होने की सम्भावना नहीं रहेगी।

शौकिया नाट्य-संस्थाओं में एक और दोष भी होता है जो प्राय: सर्वत्र देखा जा सकता है——पश्चिमी देशों में भी। श्री हाल डी० स्टेवर्ट का ही यह कथन है कि "शौकिया संस्थाएं दृश्य-पीठ का चुनाव प्राय: पोशाक और नाटक के पर्दे आदि के व्यवसायी प्रबंधकों की उदार कृपा पर छोड़ देती हैं। व्यवसायी प्रबंधकों के प्रति इनका विश्वास बहुत नाजुक होता है, जो प्राय: अधारहीन ही रहता है। जहाँ यह सही है कि व्यवसायी प्रबन्धक या प्रतिष्ठान, कला की दृष्टि से नाटक की सफलता में प्राय: कोई रुचि नहीं लेते, वहीं यह भी सही है कि रुचि पैदा कर सकने के लिए अपेक्षित पर्याप्त सूचना भी शायद ही उनको दी जाती हो। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है कि बहुधा उन को यही बताया जाता है कि दृश्य मकान के अंदर का है या बाहर का और इतनी खिड़कियाँ होनी चाहिएँ तथा इतने दरवाजे। ऐसी दशा में नाटक प्रस्तुत करनेवाले के लिए यह आशा करना ही संगत नहीं है कि उसको अपेक्षित सामान मिल जायगा——यदि वास्तव में इसकी साफ तसवीर उसके दिमाग में हो, क्योंकि वस्तुस्थिति अधिकतर विपरीत ही होती है।"

यह कथन अक्षरश: यथार्थ है। ऐसा नहीं होना चाहिये। निर्देशक अथवा प्रस्तुतकर्ता को आवश्यक सामान की पूरी-पूरी जानकारी होनी ही चाहिये——कम से कम पूरी जानकारी प्राप्त करने का प्रयास तो उसको करना ही चाहिये। यह जानकारी, नाटक की आवश्यकताओं के अनुरूप दृश्य को मस्तिष्क में बैठा कर सहज ही प्राप्त की जा सकती है। जो खामी रह जायगी, वह डिज़ाइनर के सहयोग से दूर की जा सकेगी। यहाँ भी शर्त यह है कि डिजाइनर नाटक की आवश्यकताओं को समझने वाला और निर्देशक की बातों पर ध्यान देने वाला हो।

यह बिलकुल यथार्थ है कि डिजाइन तैयार करने वाला कलाकार यदि बहुत अधिक दिलचस्पी लेने लगता है, तो अपनी बुद्धि भी भिड़ा देता है। वह कुशल हुआ तो ऐसी डिजाइन बना देगा कि उसके अनुरूप रंगमंचपर दृश्य-रचना का कार्य सम्पन्न करना असम्भव हो जायगा। इस अड़चन से मुक्ति मिल भी जाय, तो दृश्य ऐसा बन जायगा कि दर्शक उसको ही देखते रहेंगे और नाटक हवा हो जायगा। ऐसी

हालत में डिजाइन बनानेवाले का सहयोग वरदान की जगह अभिशाप भी सिद्ध हो सकता है ।

इस तरह की गड़बड़ी से छुटकारा पाने का तरीका यही है कि डिजाइन बनानेवाला भी नाटक की आत्मा को परखे । उसको चाहिये कि एक बार नहीं किंतु अनेक बार नाटक को पढ़े, उसकी एक-एक गति से परिचित हो और निर्देशक के साथ बैठकर उसके लिए अपेक्षित दृश्यों के सम्बंध में विचार-विमर्श करे ताकि उसके और निर्देशक के विचारों में भेद न रह जाय । इसके बाद ही उसको डिजाइन तैयार करने में हाथ लगाना चाहिये और डिजाइन तैयार करनी चाहिये; इस बात को दिमाग में रख कर कि लकड़ी, कैनवास, टाट, कपड़ा, कील-काँटा आदि को लेकर रंगमंच पर दृश्य खड़ा करना होगा । इतना ही नहीं, स्वयं उसको भी यह जानना चाहिये कि रंगमंच पर दृश्य की रचना कैसे हो सकेगी । इसका अर्थ यही हुआ कि उसको रंगमंच पर दृश्य-रचना के कार्य की भी जानकारी होनी चाहिये और यह जानना चाहिये कि बढ़ई, दर्जी और चित्रकार की सहायता से कौन-सा काम किया जा सकता है और कौन-सा काम नहीं किया जा सकता ।

सामान्यत: दो प्रकार के 'सेट डिजाइन' प्रचलित हैं : (१) **यथार्थ मालूम पड़नेवाला** और (२) **प्रतीकात्मक** । प्रथम के पोषक, दृश्य को उसके प्रकृत रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं । प्रतीकात्मक पद्धति को अपनाने वाले प्रतीक से काम लेकर वह दृश्य प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं जो अपेक्षित होता है किंतु वस्तुत: जो प्रस्तुत नहीं किया जाता । कौन सही है और कौन गलत, यह विवादास्पद विषय है । इसकी चर्चा अभीष्ट भी नहीं है । दोनों पद्धतियों का उल्लेख केवल यह बताने के लिए किया गया है कि डिजाइन बनाने वाला यथार्थवादी भी हो सकता है और अयथार्थवादी भी । वह जो भी हो, उसको इस बात पर ध्यान रखना ही होगा कि कौन-सा दृश्य सुविधा-पूर्वक और दृश्य-परिवर्तन के लिए जितना समय मिलनेवाला हो, उतने समय में किस प्रकार बदला जा सकता है । पूरा नाटक एक ही दृश्य पर चलनेवाला हो, तो उसकी रचना में और कई दृश्यों वाले नाटक के दृश्यों की रचना में अन्तर अवश्य होता है—दृश्य चाहे लटकानेवाले पर्दों की सहायता से प्रस्तुत किया जाय, चाहे दृश्यपीठ लगा कर ।

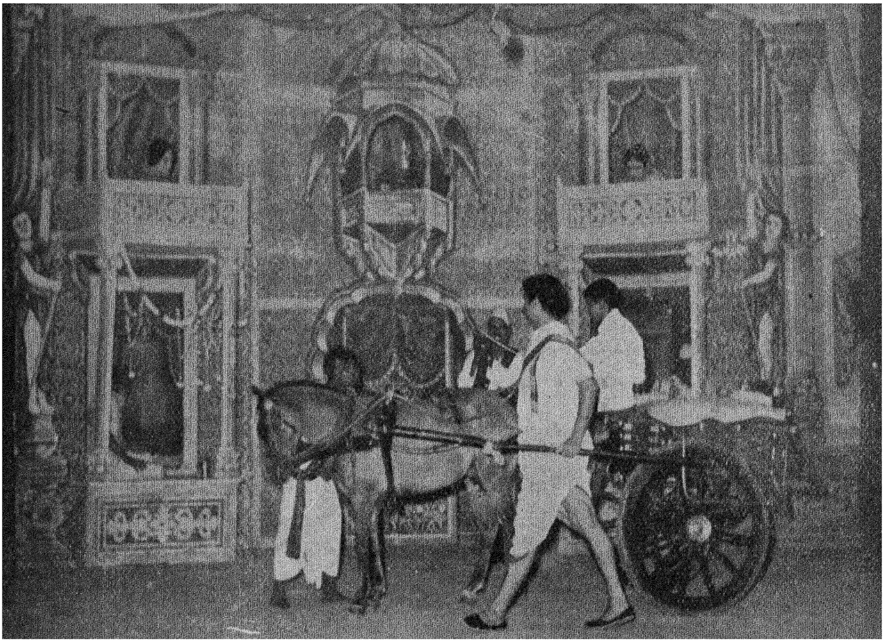

चित्र : १३
स्व. जयशंकर प्रसाद की प्रसिद्ध कहानी 'गुण्डा' पर आधारित नाटक का एक दृश्य

मान लिया जाग कि एक सुसज्जित ड्राइंग रूम का दृश्य दिखाना है । ऐसा दृश्य पर्दा लटका कर भी दिखाया जा सकता है और दृश्यपीठ (सेट) लगा कर भी; किंतु ड्राइंगरूम यदि सुसज्जित न हो तो कुर्सी, टेबुल, सोफा, फूलदान, घड़ी, चौखट में मढ़ा हुआ चित्र, रेक आदि दोनों ही दशाओं में प्रयुक्त होंगे । डिजाइन में इन को भरते समय यह देखना चाहिये कि सुविधापूर्वक अधिक से अधिक कितनी वस्तुएँ कहाँ-कहाँ से हटायी जा सकती हैं । एक ही दृश्य पर, वह चाहे दृश्यपीठ द्वारा प्रस्तुत किया जाय या पर्दा लटका कर, खेले जानेवाले नाटक के दृश्य का डिजाइन बनाते समय इस झंझट का सामना नहीं करना पड़ेगा, अतः व्यावहारिकता पर ध्यान रखते हुए खूब भड़कीले सेट का भी डिजाइन तैयार किया जा सकता है और पात्रों की सुविधा पर ध्यान रखते हुए, साज-सज्जा का अधिक से अधिक सामान डिजाइन में भरा जा सकता है ।

इस सम्बन्ध में डिजाइन बनानेवाले की भांति ही निर्देशक को भी सतर्क रहना चाहिये । कभी-कभी दर्शकों के पहले निर्देशक ही किसी डिजाइन से आवश्यकता से अधिक प्रभावित हो जाता है । फलतः उससे ऐसी त्रुटि हो जाती है, जो सामान्य अवस्था में नहीं हो सकती । चित्र संख्या १३ में इसका अच्छा उदाहरण देखा जा सकता है । यह चित्र स्पष्ट करता है कि दृश्य को यथार्थ बनाने के चक्कर में निर्देशक अन्य आवश्यक बातें भूल गया था और उसका सारा ध्यान इक्के को रंगमंच पर पहुँचाने में ही लगा था । फलतः समूहीकरण की दृष्टि से उससे भद्दी भूल हो गयी और जिस पात्र को आकर्षण केन्द्र बनना चाहिये था, उसका मुख भी दर्शक नहीं देख सके तथा आकर्षण केन्द्र इक्का बन गया । निर्देशक सावधान होता तो उसने लाठीधारी पात्र को इक्के पर बैठाया होता । इससे 'सेट' भी ऊँचा उठ जाता और दृश्य भी । यह न होने के कारण दृश्य त्रुटिपूर्ण हो गया । 'सेट' की छाप दर्शकों पर अवश्य पड़ी और ऐसी पड़ी कि वह सेट ही देखते रहे, पात्र की ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ । विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि 'सेट' की डिजाइन के कारण निर्देशक ने भूल नहीं की । व्यावहारिकता पर ध्यान न रखने वाला डिजाइनर जो भूल करता है, स्वतः सतर्क न रहनेवाले निर्देशक ने भी वही भूल की । ऐसी भूल प्रायः होती है । नतीजा यह होता है कि सब कुछ ठीक होते हुए भी दृश्य-रचना निर्दोष नहीं रह पाती । यह दृश्य-विधान की उपेक्षा का ही परिणाम होता है––उपेक्षा का कारण असावधानी हो अथवा न हो । रंगमंच-विषयक

दृश्य-विधान का यह मूल सिद्धान्त निर्देशक को स्मरण रखना ही चाहिये कि अपेक्षित होता है प्रभाव, तथ्य नहीं।

'निर्देशन' शीर्षक के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि रंगमंच को सजाने अथवा उस पर दृश्य-पीठ लगाने से पहले खाका अवश्य तैयार करना चाहिये। यहाँ यह बात और जोड़ी जा रही है कि खाका तैयार हो जाय तो समूहीकरण की दृष्टि से आवश्यक बातें भी नोट कर ली जायँ ताकि किसी तरह की भूल होने की सम्भावना न रहे। सच तो यह है कि समूहीकरण दृश्य-विधान का भी अंग है। इसमें भी दर्शकों की दृष्टि रेखा तथा क्रिया-कलाप के आकर्षण केन्द्र पर ध्यान रखना ही चाहिये। उदाहरणार्थ, जिस दृश्य में समय से सम्बद्ध वातावरण का दृष्टि-विषयक ब्योरा आवश्यक हो, उसमें निर्देशक को वातावरण को साकार करनेवाले उपकरण, वह प्रतीकात्मक हो अथवा यथार्थ, ऐसे स्थान पर ही रखने चाहिएँ जहाँ दर्शक उनको देख सकें। उनके चतुर्दिक ऐसी भीड़-भाड़ भी नहीं होनी चाहिये जिसमें उपकरण छिप जायें।

जहाँ इस तरह के उपकरण को दर्शकों की दृष्टिरेखा पर रखना आवश्यक है, वहीं यह देखना भी आवश्यक है कि उपकरण, पात्र के मार्ग में बाधक न हो जायँ। 'निर्देशन' शीर्षक के अन्तर्गत यह बताया जा चुका है कि सेट में प्रयुक्त होनेवाले उपकरण कार्य-व्यापार की दृष्टि से दो भागों में विभक्त होते हैं। कुछ उपकरण ऐसे होते हैं जिनका अभिनय से सीधा सम्बन्ध होता है और शेष अन्य सजावटके काम में आते हैं। सेट के उपकरणों को पात्रों के व्यापार अथवा अभिनय में बाधक न होने देने के लिए पहले ही उपर्युक्त दो भागों में उनका विभाजन कर लिया जाता चाहिये। इसके पश्चात् जहाँ वह प्रयुक्त होनेवाले हों, उन स्थानों को चिह्नित करने पर यह ज्ञात हो जायगा कि पात्रों के मार्ग में, किसी भी दृष्टि से, बाधा उत्पन्न होती है या नहीं। यदि बाधा उत्पन्न होती दिखाई दे तो सजावट के उपकरण कम करके स्थानाभाव अथवा अन्य समस्या हल की जा सकती है। मान लिया जाय कि रंगमंच पर प्रकाश का साधन केवल एक मोटी मोमबत्ती है, जो शमादान में लगी है और पात्र उस मोमबत्ती की लौ के चतुर्दिक घूमने वाले शलभ को देख रहा है। इस दृश्य में शमदान यदि ऐसी जगह हो, जहाँ पर रहने के कारण पात्र का मुख ढक जाता है तो सारा दृश्य चौपट हो जायगा; क्योंकि शमादान

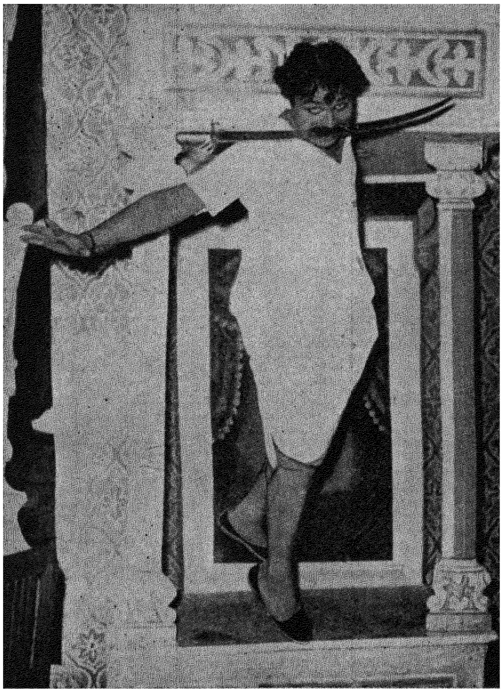

चित्र : १४
'गुण्डा' नाटक का एक अन्य दृश्य

दर्शक की दृष्टि में बाधक होगा और पात्र का भावात्मक अभिनय दर्शक को दिखाई नहीं देगा। शमादान यदि ऊपर से लटका होगा तो सारा प्रकाश ऊपर ही फैल जायगा और पात्र पूर्णतः अंधकार में रहेगा। अतः दृश्य-विधान की दृष्टि से उपर्युक्त दृश्य में शमादान को ऐसे स्थान पर और इस रूप में रखना होगा, जहाँ से शमादान में लगी मोमबत्ती का प्रकाश पात्र के मुँह पर भलीभांति पड़ सकता हो, लौ के चतुर्दिक घूमनेवाले शलभ को पात्र सुविधा के साथ देख सकता हो तथा पात्र का अभिनय और अन्य कार्य-व्यापार दर्शकों को नजर आ सकता हो।

सेट अथवा दृश्यपीठ या अन्य प्रकार से दृश्य-रचना में प्रायः नजर आनेवाली भूल उस दृश्य-पीठ में होती है, जिसमें खिड़कियाँ-दरवाजे अधिक होते हैं। रंगमच पर ऐसे दृश्य की रचना के समय खिड़की या दरवाजे के पीछे के स्थान को उपयुक्त रूप में ढकने में प्रायः लापरवाही की जाती है। इसके फलस्वरूप अच्छा होने के बावजूद, दृश्य खराब हो जाता है और नेत्रों में खटकने लगता है। इस भूल के कारण कभी-कभी भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है। चित्र संख्या १४ को देख कर इसका अनुमान लगाया जा सकता है। यह दृश्य श्री जयशंकर 'प्रसाद' की प्रसिद्ध कहानी 'गुंडा' पर आधारित नाटक का है। कहानी के कथानक के अनुसार चित्र में नजर आनेवाली खिड़की के बाहर गंगा की लहरें नजर आनी चाहिये थी। इससे स्पष्ट हो जाता कि खिड़की से राजमहल में प्रवेश करनेवाला व्यक्ति गंगा की ओर से आया। किन्तु चित्र में गंगा की लहरों के स्थान पर अजीब-सी चीज नजर आ रही है, जिससे यह भ्रम होता है कि खिड़की महल के अंदर बने कमरे की है। चित्र में दृष्टिगत पात्र की मुद्रा बताती है कि वह दर्शकों पर छा गया होगा। किंतु दृश्य-रचना में दोष भी यह बताने में पीछे नहीं रहता कि कहानी के अनुक्रम को पात्र अपने साथ नहीं रख सका होगा अर्थात् दर्शक यह नहीं जान सके होंगे कि वह गंगा की ओर से ही आया।

इस उदाहरण का उल्लेख केवल यह बताने के लिए किया गया है कि दृश्य की रचना के पश्चात् उसमें बनाये गये किसी स्थान——वातायन, दरवाजा, बरामदा अथवा खिड़की——के बाहर नजर आनेवाली अवस्था पर भी ध्यान रखना चाहिये। खिड़की, दरवाजा आदि पर्दे से ढका हो, तो पर्दा थोड़ा बड़ा होना चाहिये ताकि अगल-बगल रन्ध्र न रह जाय या किसी प्रकार की विकृति न हो। खिड़की के बाहर पेड़-पौधे

अथवा मकानों की कतार या आकाश दिखाना हो, तो भी सावधानी से ध्यान रखना चाहिये । अभिप्राय यह है कि दृश्य के इस पक्ष की भी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये ।

'निर्देशन' शीर्षक के अन्तर्गत गह पहले ही बताया जा चुका है कि अंदर की पखवाइयों के ऊपर लटकायी जानेवाली झालर को लगाने में भी प्राय: ऐसी ही असावधानी से काम लिया जाता है । कभी झालर टेढ़ी रह जाती है, कभी उसका कोना पखवाई पर पड़ कर सिकुड़ जाता है और कभी उस में और पखवाई की लम्बरेखा के बीच अंतर रह जाता है । इससे झालर के पीछे का भाग दिखाई देने लगता है जो निश्चय ही दृश्य में विकार उत्पन्न कर देता है । दृश्ग-विधान की दृष्टि से ये ऐसी त्रुटियाँ हैं, जो सहज ही दूर की जा सकती हैं किंतु शौकिया संस्थाओं के नाटकों में रंगमंच पर जो बार बार नजर आती हैं । निस्सन्देह, यह दोष रंगमंच पर दृश्य की रचना के समय असावधानी के कारण ही उत्पन्न होता है किन्तु कभी-कभी ऐसा ही दोष रंगमंच पर पर्दे के पीछे काम करनेवाले कार्यकर्त्ताओं की असावधानी के कारण भी पैदा हो जाता है । इस प्रचलित धारणा के कारण ही ऐसी असावधानी का परिणाम भुगतना पड़ता है कि पर्दे को हटाने-बढ़ाने अथवा सेट को बदलने के काम के लिए किसी प्रकार की कुशलता आवश्यक नहीं होती । फलत: दस में से नौ नाटकों में पर्दा हटाने-बढ़ाने गा दृश्य बदलने का काम अकुशल मजदूरों के जिम्मे सौंप दिया जाता है । इसका जो परिणाम होता है, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है ।

चित्र संख्या : १५ में नजर आनेवाले सेट का निर्माण भी 'गुंडा' नाटक में मैंने कराया था । संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के नयी दिल्ली-स्थित दूतावास में सांस्कृतिक मामलों के प्रमुख अधिकारी श्री टाम० ए० नूनन ने, जो रंगमंच विशेषज्ञ हैं, मार्च १९६० में अपनी वाराणसी यात्रा के समय यहाँ की प्रसिद्ध नाट्यसंस्था श्री नागरी नाटक मंडली के रंगमंच का निरीक्षण किया था और उस समग ही इस चित्र को देख कर उन्होंने सेट की काफी प्रशंसा भी की थी । जिस दोष की ओर उन्होंने ध्यान आकृष्ट कराया था, उसकी ओर मेरा ध्यान पहली बार उस समय ही आकृष्ट हुआ था । श्री नूनन ने कहा था—"बेशक, यह सेट बहुत भव्य है । इसके पीछे माथे पर लटकी झालर यदि बीच से गोल न हो गयी होती, आगे माथे पर लटकती डोरी और बिजली का शेड नजर न आता, तो यह सेट चित्र में और भी अधिक भव्य दिखाई देता । इस समय अपनी ओर से मैं एक और दोष

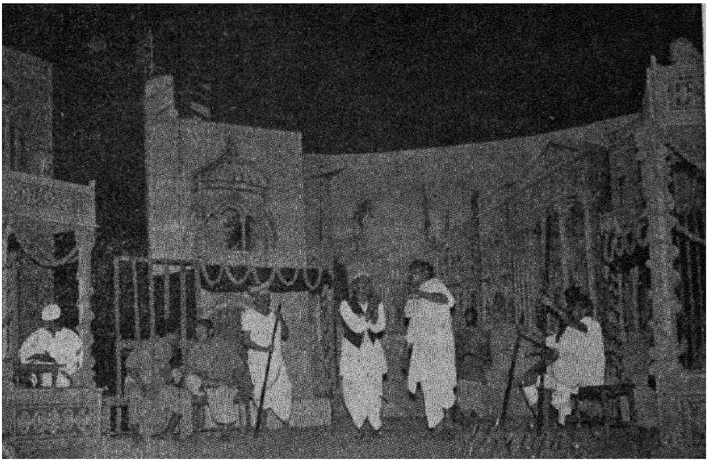

चित्र : १५

'गुण्डा' नाटक का एक दृश्य, जिसमें दृश्यपीठ की उपयुक्त ऊँचाई और माथे पर लटकायी जानेवाली झालर से--दृष्टि-रेखा पर ध्यान रखते हुए--उसके अनुपात पर ध्यान नहीं दिया गया।

चित्र : १६

'गोपी-विरह' नामक संगीत-नाटिका का एक प्रभावपूर्ण दृश्य

यह बता रहा हूँ कि इसमें आकाश की जगह काला पर्दा नहीं होना चाहिये था। पीछे के पर्दे में आकाश का जो रंग है, वही अग्रिम भाग तक होना चाहिये था।" अस्तु, इस चित्र में रस्सी की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए इसका उल्लेख अभीष्ट था, अन्य बातें प्रसंगवश ही सामने आ गयीं।

इसमें बिजली का शेड दिखाई पड़ने का जो दोष नजर आ रहा है, वह शौकिया संस्थाओं के द्वारा खेले जानेवाले अस्सी प्रतिशत नाटकों में नजर आता होगा। इसके दो प्रमुख कारण हैं। पहला कारण यह है कि दृश्य-पीठ की उपयुक्त ऊँचाई और

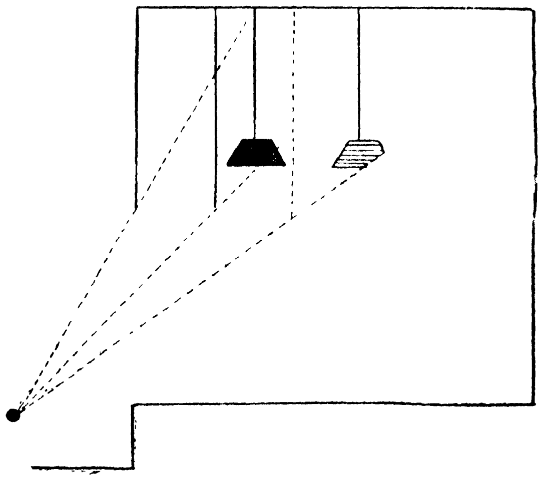

खाका : २३

माथे पर लटकायी जानेवाली झालर से, दृष्टि-रेखा पर ध्यान रखते हुए, उसके अनुपात पर ध्यान नहीं दिया जाता। दूसरा कारण यह है कि झालरें लटकाते समय इस बात पर ध्यान नहीं रखा जाता कि दृष्टि-रेखा के क्रम से उनकी ऊँचाई ठीक है अथवा नहीं— यह बहुत आवश्यक बात है। झालर इस तरह और इस हिसाब से लगायी ही जानी चाहिये कि उसके पीछे लटकाया जानेवाला बिजली का शेड दर्शकों की प्रथम पंक्ति में बैठे किसी भी दर्शकों को नजर न आये। प्रथम पंक्ति के दर्शक को यह दृष्टिगत नहीं होगा, तो पीछे के दर्शक भी इसको देख न सकेंगे। खाका संख्या : २३ को देखकर उचित व्यवस्था का अनुमान लगाया जा सकता है।

चित्रित पर्दे की जगह फ्लाट के उपयोग का प्रचलन बढ़ता जा रहा है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इससे दृश्य को द्विपरिमाणात्मक और त्रिपरिमाणात्म बनाने में पर्याप्त सुविधा होती है। किंतु याद रखना चाहिये कि कभी-कभी 'फ्लाट' का उपयोग भी पर्दे की ही भांति होता है। ऐसी दशा में उसकी समुचित उपयोगिता के सम्बन्ध में थोड़ी-सी सूझ-बूझ बहुत सहायक हो सकती है और समानान्तर दृश्यपट में त्रिपरिमाणात्मक गुण का समावेश सरलता से किया जा सकता है। चित्र संख्या:१६ 'गोपी-विरह' नामक संगीत नाटिका के एक ऐसे ही दृश्य का चित्र है जिसमें नदी दर्शाने वाला अकेला फ्लाट प्रयुक्त हुआ था। इस फ्लाट का सौंदर्य बढ़ाने एवं इसके चपटे स्वरूप को समाप्त करने के लिए किनारे पर कुछ कबूतर छोड़ दिये गये थे। इनमें से एक कबूतर नदी-तट के पास बैठा नजर आ रहा है। दृश्य के लिहाज से कबूतर के कारण पूरे दृश्य का स्वरूप बदल गया और उसके कारण उत्पन्न 'विपर्यय' ने निश्चय ही दृश्य में जान डाल दी। इससे सिद्ध होता है कि दृश्य-रचना का कार्य तकनिकी जानकारी के साथ-साथ सूझबूझ पर भी काफी हद तक आधारित रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि रंगमंच पर दृश्य-रचना के मामले में लकीर का फकीर होने की आवश्यकता नहीं है। इस दृष्टि से जिस प्रकार यथार्थ से चिपके रहना वर्जित है, उसी प्रकार चित्रकला के तकनिकी पक्ष से चिपके रहना भी आवश्यक नहीं माना जा सकता। सौंदर्य के बोध तथा वाँछित भ्रम की उत्पत्ति को ही प्रमुख मानना चाहिये। चित्र संख्या: १७ इसका अच्छा उदाहरण है। चित्रकला की तकनीक की दृष्टि से इसमें दोष हो सकता है—दोष है भी; किंतु प्रश्न यह है कि रंगमंच के दृश्य-विधान की दृष्टि से यह आवश्यकता की पूर्ति करनेवाला प्रतीत होता है या नहीं? उत्तर नकारात्मक नहीं हो सकता क्योंकि चित्र में दृष्टिगत होने वाला दृश्य नेत्ररंजक है। रंगमंच-विषयक दृश्य-विधान का उद्देश्य यही समझना चाहिये।

घर से बाहर के अथवा मुक्त आकाश के नीचे के दृश्यों में भी फ्लाट आदि से ही काम लिया जाय, यह आवश्यक नहीं है। फ्लाट से काम लिया जाता है लेकिन कभी प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों से भी, जो सहज ही हटाये-बढ़ाये जा सकते हैं, काम लिया जा सकता है। वातावरण से प्रयोग का सामञ्जस्य होने पर इस तरह का प्रयोग भी नितांत सफल होता है। इसका एक रूप चित्र संख्या १८ और दूसरा रूप चित्र संख्या १६ में

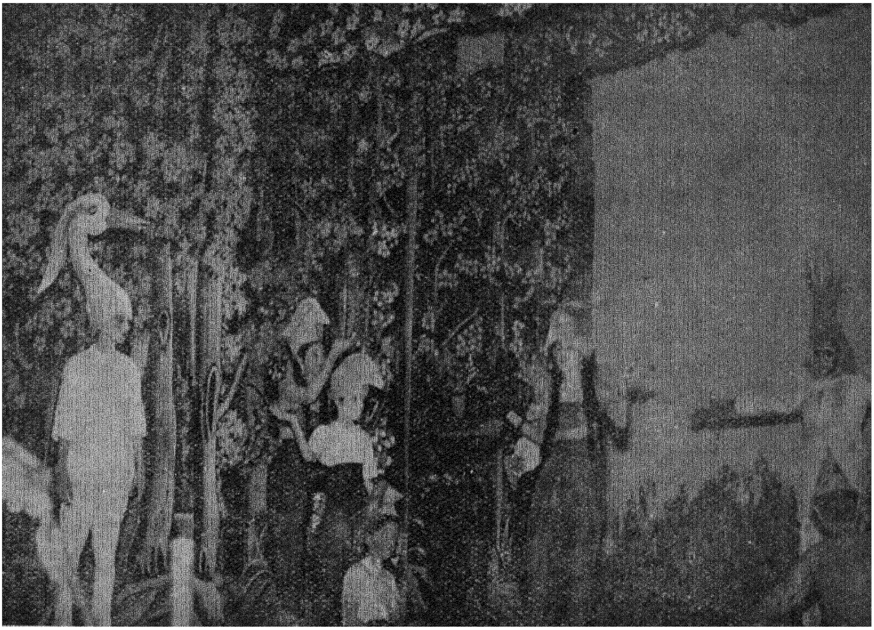

चित्र : १७

गुजराती नृत्य-संगीत नाट्य 'चाड़िया नू सपनू' का एक दृश्य; इस चित्र में दृष्टिगत होनेवाला दृश्य यथेष्ठ नेत्ररंजक है

देखा जा सकता है । चित्र संख्या : १८ में नजर आनेवाले खेत का दृश्य रंगमंच पर ही मिट्टी में दो से तीन फुट तक के पौधे जमा कर बनाया गया था । पौधे भी वे हैं, जो झाड़-झंखाड़ में पैदा होते हैं । चित्र संख्या १९ में नजर आनेवाला केले का पेड़, वास्तव में केले का ही पेड़ था । इससे सहज ही दृश्य में जो सौंदर्य-वृद्धि हुई, चित्र देख कर उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है । इन दो चित्रों को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह बताना है कि दृश्य-विधान की मूलभूत बातों पर ध्यान रखते हुए, दृश्य-रचना अनेक प्रकार से की जा सकती है । इसमें किसी तरह का कोई बंधन आड़े नहीं आता । बंधन जो है, वह दृश्य-विधान का मूल आधार है और वह वातावरण के अनुकूल अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करने के उद्देश्य से निश्चित एवं निर्धारित किया गया है ।

यह संकेत किया जा चुका है कि मकान के भीतरी भाग की दृश्य-रचना में पृथक से प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों का भी महत्त्व होता है । इनकी सजावट को पूरे दृश्य का प्रमुख अंग मानना चाहिये । इस तरह की सजावट का काम बहुत आसान नहीं होता । अपने डिजाइन में इनका स्थान न दिखानेवाला डिजाइनर भूल करता है, जिसकी ओर निर्देशक द्वारा ध्यान आकृष्ट किया ही जाना चाहिये ।

साज-सज्जा को दर्शानेवाले डिजाइनर को डिजाइन के अतिरिक्त फर्श का खाका भी तैयार करना चाहिये ताकि निर्देशक यह जान सके कि कौन-सी वस्तु कहाँ रखी है । इस तरह की जानकारी प्राप्त करने में वह मध्य-विंदु ही सहायक होता है जो खाका संख्या : २१ में दिखाया गया है । इसमें जो समानान्तर रेखा दिखाई गयी है, उससे सारा रंगमंच भरा रहता है, अतः इसकी सहायता से रंगमंच पर वह स्थान विशेष सरलता से ढूँढ़ा जा सकता है, जो रंगमंच की गहराई और चौड़ाई के अनुकूल छोटे पैमाने पर तैयार किया गया हो । मान लिया जाय कि डिजाइन में एक कुर्सी ऐसी जगह दिखाई गयी है जो मध्य-विंदु से दायीं ओर ८′ और गहराई में ५′ की दूरी पर है । रंगमंच पर अंदर की पहली पखवाई के जोड़ को मिलानेवाली समानान्तर-रेखा के मध्य विंदु से दायीं ओर ८′ पर निशान लगा कर इसके अंतिम विंदु पर ५′ की लम्बरेखा खींचने के बाद, लम्ब-रेखा का जो ऊपरी छोर मिलेगा, वही उपर्युक्त कुर्सी का स्थान होगा (खाका सं. २१) । इस प्रकार अन्य वस्तुओं का भी स्थान ढूँढ़ा जा सकता है ।

दृश्य-रचना में चित्रित पर्दे और फलाट, आदि के अतिरिक्त रंगीन

सादे पर्दे से भी काम लिया जाता है। इस युग के सामाजिक नाटकों में सादे पर्दों का उपयोग सुन्दर ढंग से किया जा सकता है, किंतु ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में इस तरह के पर्दे नहीं खपाये जा सके।

प्रतीकात्मक पद्धति को अपनानेवाली संस्थाएँ प्रायः सादे पर्दों का ही उपयोग करती हैं। इसमें संदेह नहीं है कि ऐसे पर्दे भी सुन्दर दृश्य की रचना में सहायक हो सकते हैं किंतु शर्त यह है कि सजावट के उपकरण आवश्यकतानुसार उपलब्ध हों। किसी एक दृश्य में दृश्यपीठ या चित्रित पर्दे के साथ सजावट के अधिक से अधिक जितने उपकरणों की आवश्यकता हो सकती है, सादे पर्दों की सेटिंग में उससे कुछ अधिक उपकरण ही लगेंगे, क्योंकि सपाट रंग के कारण जो समानता उत्पन्न होगी, वह नेत्रों को बोझिल लगेगी; अतः इस भार को हल्का करने के लिए पर्दों के आस-पास पर्दे के रंग पर आसानी से चढ़ सकनेवाले रंग के कुछ उपकरण भी इधर-उधर लगाने पड़ेंगे।

आधुनिक सामाजिक नाटकों में सादे पर्दों के उपयोग का प्रचलन बढ़ सकता है। इनका उपयोग न केवल सुविधाजनक होता है, बल्कि पैसा भी कम

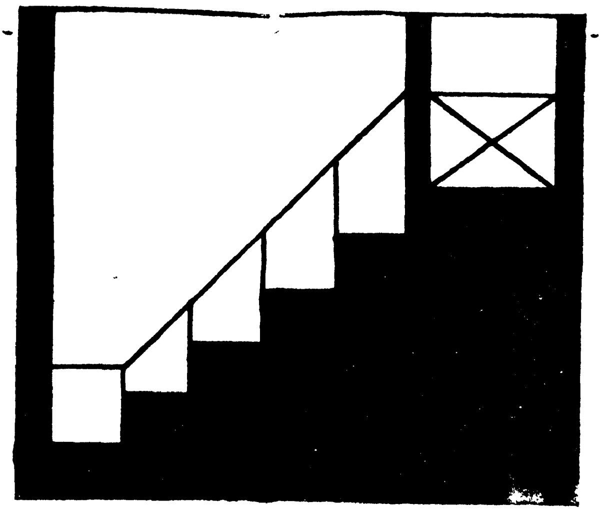

खाका : २४

लगता है। इनकी उपयोगिता भी सीमित नहीं है। थोड़ी-सी सूझ-बूझ से काम लिया जाय, कुछ दिमाग लगाया जाय तथा विभिन्न रूपों में इनके उपयोग का अभ्यास जारी

चित्र : १८
गुजराती नृत्य-संगीत नाट्य 'चाड़िया नू सपनू' का एक दृश्य
[इसमे नज़र आनेवाले खेत का दृश्य रंगमंच पर ही मिट्टी में दो से तीन फुट तक के पौधे जमा कर बनाया गया है]

रखा जाय, तो एक ही पर्दा अनेक रूपों में काम आ सकता है। उदाहरणार्थ, सादे पर्दे से खम्भा आसानी से बनाया जा सकता है। कुशल निर्देशक इस तरह का खम्भा, अपनी देख-रेख में साधारण मजदूर से भी बनवा सकता है। अवश्य ही पर्दा वजनी नहीं होना चाहिये। खम्भे की जितनी मोटाई अपेक्षित हो, उस हिसाब से लम्बाई में पर्दे की तह लगा देनी चाहिये और जिधर तह खुली हो, उधर कच्चा टाँका लगा कर पर्दा सी देना चाहिये। इसके पश्चात मोटे तार से खम्भे की मोटाई की नाप के तीन छल्ले तैयार कर लेने चाहिएँ। एक छल्ला पर्दे की उपयुक्त तह के नीचे अर्थात् आधार पर, दूसरा मध्य में और तीसरा सिरे पर सुई से टाँका लगा कर भीतर की ओर बैठा देना चाहिये। इसके पश्चात सिरे को तीन ओर से बाँध कर ऊपर से लटका दिया जायगा, तो खम्भा खड़ा हो जायगा। इस तरह का खम्भा काफी अच्छे ढंग से इस्तेमाल में लाया जा सकता है (खाका : २४, पृ० १००)।

इस प्रकार सादा पर्दा लहर देते हुए समेट कर खड़ा कर दिया जाय और पार्श्व से उस पर रोशनी फेंकी जाय तो वह पेड़ के मोटे तने का आभास उत्पन्न कर सकता है। दो पर्दों को ऐंठन दे कर तथा फिर एक-दूसरे पर ऐंठन दे कर बैठाने से लहरियादार खम्भा सुगमता से तैयार हो जायगा। ऐसे अनेक प्रयोग किये जा सकते हैं, किंतु जैसाकि पहले कहा जा चुका है, काम सूझ-बूझके सहारे लेना चाहिये।

दृश्य-विधान के ही अन्तर्गत अब एक नयी तकनीक का सहारा भी लिया जाने लगा है। यह काफी कठिन होती है। अमूर्त को भी मूर्त दिखाने के प्रयास में यह लक्ष्य होती है। जिस प्रकार चित्रकार तूलिका और रंग के सहारे कोरे कागज पर चित्र बनाता है, उसी प्रकार संवाद-प्रेषण की सशक्त शैली और भय, ईर्ष्या, आसक्ति का भाव मुखाकृति के माध्यम से प्रकट करने की क्षमता के सहारे, अभिनेता भी शब्दों से ऐसा चित्र खींचता है, जो अमूर्त होता है; फर भी दर्शकों की आँखों के सामने नाचने लगता है। रंगमंच पर अभिनेता के अतिरिक्त और कोई भी भले ही नजर न आये, लेकिन संवाद-प्रेषण और अभिनय की विशिष्टता के कारण दर्शक यह अनुभव करने लगेंगे कि "डाकू घर में घुसा। उसकी भयानक आकृति देख कर गृहस्वामिनी बुरी तरह डर गयी। उसने चिल्लाने की कोशिश की लेकिन चिल्ला नहीं सकी। इतने में कुछ लोगों के आगमन की आहट हुई और डाकू उलटे पैर भाग गये।"

इस तरह जो चित्र खींचा जाता है, वह अमूर्त होता है, लेकिन फिर भी दर्शकों के मस्तिष्क में बैठ जाता है। कुशल नाट्यकार इस तरह का दृश्यात्मक भूमि पर भी अपना नाटक खड़ा करता है। दृश्य अमूर्त रहता है लेकिन दर्शक को नाटक की पृष्ठभूमि में बराबर वही नजर आता है और वह भूल जाता है कि अभिनय सादे पर्दे पर किया जा रहा है, दृश्य वस्तुतः कोई है ही नहीं। इसको दृश्यात्मक परिणाम कहते हैं।

इस तरह का प्रयास तभी सम्भव है जब नाटक में इसकी गुंजाइश हो। इसमें न तो डिजाइनर कुछ कर सकता है, न निर्देशक कोई सलाह दे सकता है। सच तो गह है कि गुंजाइश रहने पर भी निर्देशक दृश्य-रचना का सहारा लेते हैं और दृश्यात्मक परिणाम का सहारा सीमित क्षेत्र में ही स्वीकार करते हैं।

दृश्य-विधान के क्षेत्र में यह नया मोड़ रंगमंच पर दृश्य-रचना की परम्परा को किस हद तक प्रभावित करेगा? कुछ भी कह सकना कठिन है। एक प्रयोग आरम्भ हुआ है। इसकी थोड़ी-सी झलक 'पंचमांगी' नाटक के इस अंश में देखी जा सकती है!

[**दृश्य** : जंगल और पहाड़ियाँ। सामने एक समाधि है।
रंगोला और अहोम की वार्ता।]

रंगोला : (समाधि की ओर संकेत करके) **देख रहे हो न इस को? घी का दीपक इसके मध्य में रखा था। वातावरण था शांत। समाधि के पास भूमि पर बैठी पहाड़ी की माँ एक टक दीपक की लौ को निहार रही थी। उस के प्रशांत मुख पर अठखेलियाँ करनेवाला दीपक का प्रकाश माँ के हृदय की ममता को सहलाता-सा लगता था।**

अहोम : **चित्र अच्छा है लेकिन.........**

रंगोला : **मेरे पैरोंकी आहट पाकर पहाड़ी की माँ ने आहिस्ता से मेरी ओर मुँह घुमाया। उसकी मुख-श्री ने मुझ पर जादू-सा कर दिया। मेरे मुँह से हठात् निकल पड़ा—माँ!**

अहोम : **तुम...........**

रंगोला : **(खोया-खोया-सा) मेरे मुँह से 'माँ' शब्द निकला ही था कि पहाड़ी की माँ के नेत्र विस्फारित होकर मेरे मुख पर जम गये। मैं सुध-बुध खोने ही वाला था कि उसकी आँखों से आँसू की दो-चार बूँदें टपकती दिखाई दीं। प्रशांत मुख पर वेदना की काली छाया आ गयी। आँखों से गिरने वाले आँसू से**

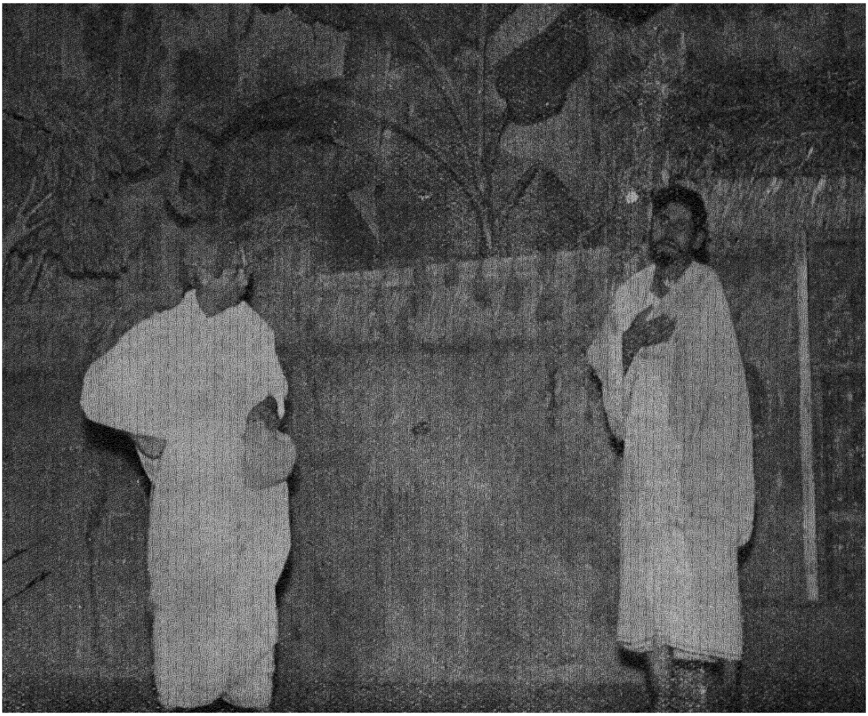

चित्र : १९

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय कृत बंगला कहानी 'महेश' पर आधारित नाटक का एक दृश्य

[इस दृश्य में नजर आनेवाला केले का पेड़ वास्तव में केले का ही पेड़ है। इससे सहज ही दृश्य में जो सौन्दर्य-वृद्धि हुई है, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं]

सींचौ काली लकीरें मर्मान्तिक पीड़ा की संदेशवाहिका-सी लगीं । मैं कुछ कहना ही चाहता था कि पहाड़ी की माँ बोल उठी—'तुमने मुझे माँ कहा ! मैं बोल न सका । पहाड़ी की माँ ने ही कहा—'सुखी रहो बेटा ।' फिर उसने न तो मेरी ओर देखा, न पहाड़ी की माँ की ओर । लाठी टेकते हुए चुपचाप चली गयी । वह आँखों से ओझल हो गयी । तब भी लाठी टेकने से पैदा होनेवाली खट्-खट् की आवाज उसकी आकृति के रूप में मेरी आँखों के सामने नाचती रही और मैं......!

इस विषय सम्बद्ध अंतिम किंतु आवश्यक बात यह है कि दृश्य-रचना के साथ आवश्यकतानुसार अस्थायी दृश्यात्मक प्रभावों को भी संयुक्त करना पड़ता है; यथा—बादल की गर्जना, बिजली की चमक, उल्कापात, वर्षा, तूफान, आदि । इनको दृश्य-रचना से पृथक् नहीं माना जाता ; किंतु इनके संयोजन के लिए केवल निर्देशक ही जिम्मेदार होता है । आवश्यकतानुसार ऐसे कार्य की पूर्ति के लिए या तो वह विविध प्रचलित साधनों—यथा गर्जन के लिए टेप-रिकर्डर और वर्षा के लिए मोतियों के पर्दे—का सहारा लेता है या विद्युत्-प्रकाश के विभिन्न उपकरणों के द्वारा अपेक्षित दृश्यात्मक प्रभाव को उत्पन्न करने में दक्ष व्यक्ति का सहयोग प्राप्त करता है । अब तो इस कार्य में अधिकतर विद्युत् प्रकाश के उपकरण ही प्रयुक्त होते हैं । इनकी उपयोगिता, फिर भी, अनुकूल दृश्य और इससे उत्पन्न अनुकूल वातावरण पर ही होती है । किसी दृश्य में बादलों का गर्जन सुनाने की आवश्यकता हो, तो वातावरणमें प्रबंधकी व्यवस्था दृश्य-रचना के साथ ही कर ली जानी चाहिये । दृश्य-मैदानी हिस्से का हो तो आकाशीय पर्दा बदलने की व्यवस्था रहनी चाहिये और दृश्य मकान के भीतर हिस्से का हो, तो खिड़की या दरवाजे से पानी की बौछार अथवा बिजली की चमक के क्षणिक प्रवेश या हवा के प्रबल झोंके के प्रवेश का प्रबंध भी कर लेना चाहिये अन्यथा केवल बादलों की गर्जना से अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न न हो सकेगा । यह उदाहरण मात्र है । प्रयोग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं ।

दृश्य-विधान-विषयक सारभूत आवश्यकताओं का उल्लेख करने के बाद यह कहना ही शेष रह जाता है कि प्रयोग असीमित है लेकिन प्रयोग घूमते हैं, निश्चित धुरी पर ही । इसका अध्ययन भली-भांति करने, व्यावहारिक योग्यता प्राप्त करने तथा सतत सतर्क रहने पर दृश्य-विधान कार्य न केवल सरल प्रतीत होगा अपितु उसमें दिलचस्पी

भी बढ़ेगा और रस भी मिलेगा । चलता काम करते रहने पर न तो दृश्य विधान, न उसकी उपयोगिता समझ में आ सकती है । इस कार्य का व्यवसाय प्रबंधक के हाथ में छोड़ने से अच्छा यह है कि नाट्य-संस्थाएँ इसके लिए अपने कार्यकर्ता तैयार करें । आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करने तक ही व्यवसाय-प्रबंधकों से सम्बन्ध रखना नाट्य-संस्थाओं क लिए श्रेयस्कर होगा ।

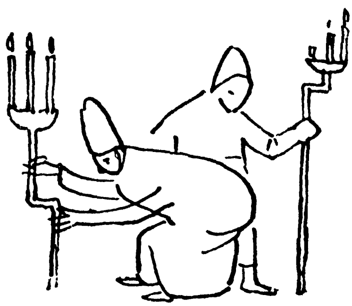

रंगदीपन

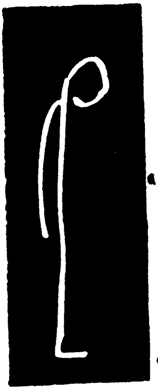

•

रंगशाला में बैठा दर्शक रंगमंच पर प्रकाश को देखकर, भावात्मक दृष्टि से, जितनी शीघ्रता से प्रभावित होता है, उतनी शीघ्रतासे अन्य किसी वस्तु को देखकर प्रभावित नहीं होता—पात्र के अभिनयको देखकर भी नहीं । प्रकाश-रश्मियों का यह गुण मानव समाज तबसे देखता आ रहा है, जब उसने प्रथम बार 'ऊषा' का दर्शन किया होगा, दिवस के अवसान के समय विभिन्न मनोहारी रंगों से आकाश को पहली बार रंजित देखा होगा तथा वर्षा काल में पहली बार जब इंद्र धनुष की छबि पर उसकी दृष्टि पड़ी होगी ।

रंगों की यह करामात प्रकाश की ही देन है । विज्ञान बताता है कि विभिन्न रंगों की प्रकाश रेखाओं को एक-साथ देखने पर ही श्वेत रंग के अथवा सादे प्रकाश का बोध होता है । श्वेत रंग के प्रकाश में रंगीन प्रकाश से कुछ अधिक तत्त्व होते हैं । यदि संकुचित आड़े रंध्रों से श्वेत प्रकाश, 'प्रिज्म' को बीच में रखकर आगे दौड़ाया जाय तो विभिन्न प्रकार की रंगीन प्रकाश-रश्मियां स्पष्ट हो जायंगी (खाका—२५) । इस प्रकार प्रमुख सात रंग दिखाई देंगे : (१) लाल, (२) नारंगी (३) पीला (४) हरा (५) नीला-हरा (६) नीला और (७) बैंगनी ।

जिस विधि का ऊपर जिक्र किया गया है, उस विधि से रंगमंच के पृष्ठ भाग में लगे सफेद पर्दे पर यदि 'स्पाट लाइट' से प्रकाश फेंका जाय तो पर्दा सहज ही खूबसूरत रंगों से रंजित हो जायगा । इससे रंगमंच पर प्रकाश-व्यवस्था का महत्त्व भी सरलता से प्रकट हो जायगा ।

'सिनिक इक्वीपमेंट फार दि स्माल स्टेज' के लेखक आँगस विलसन ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि "केवल जगमगाहट के अतिरिक्त और कुछ भी

अभीष्ट हो तो रंगमंच पर रंगीन प्रकाश की व्यवस्था करनी ही चाहिये," क्योंकि "रंगीन प्रकाश के बिना वातावरण और मनोदशा का आभास कराना सरल नहीं है ।"

श्री विलसन ने ही दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी बतायी है कि प्रकाश-पुंज को व्यर्थ ही फैलने नहीं देना चाहिये । उसको अभिनय-स्थल पर पड़ना चाहिये, अन्य किसी जगह पर नहीं ।

सूर्य की रोशनी

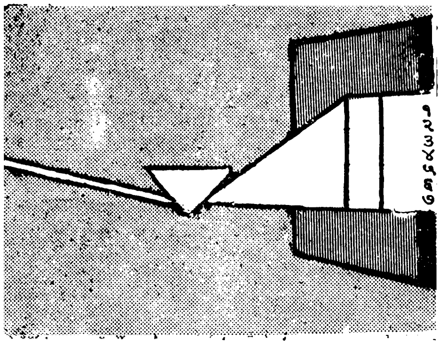

खाका : २५

उपर्युक्त दोनों सिद्धांत रंगदीपन के उत्तरोत्तर विकास और उसकी महत्ता में निरंतर वृद्धि की देन हैं । इन दोनों की महत्ता मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रमाणित भी हो चुकी है । यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ही फल है कि रंगमंच पर भयोत्पादक और त्रासद दृश्यों के समय मद्धिम प्रकाश से काम लेते हैं और काले तथा गहरे भूरे रंग के एक-से पर्दे लगाते हैं । किसी दृश्य में यदि कोई पैशाचिक कृत्य रहता है तो इसके पात्र के मुँह पर लाल प्रकाश फेंका जाता है जिससे भयानकता और बढ़ जाती है ।

प्रकाश का समुचित उपयोग स्वतः विज्ञान हो गया है और इस कार्य में जो दक्ष होता है, वह तनिक भी प्रकाश नष्ट नहीं होने देता ।

हमारे यहाँ रंगदीपन की जो विधि प्रचलित है, वह बहुत पुरानी है । पश्चिम की नयी नाट्य-संस्थाएं सम्भवतः इससे परिचित न होंगी । इस विधि के अनुसार रंगमंच पर ऊपर से लगी झालरों के पीछे कुछ बत्तियाँ लटका दी जाती हैं जिनको 'हेडलाइट'

या शीर्ष-दीप कहते हैं । आगे की पखवाइयों के बीच सीधी रेखा में कुछ बत्तियाँ लगा दी जती हैं, दर्शकों की ओरजिनमें 'शेड' लगे होते है । इनको 'फुट लाइट' अथवा तल दीप कहते हैं । अंदर की पखवाइयों के पीछे दोनों ओर स्टैण्ड के सहारे, एक पखवाई के पीछे एक बत्ती के हिसाब से, दो या चार बत्तियाँ लगायी जाती हैं जिनको साइड लाइट अथवा पार्श्व दीप कहा जाता है। विशेष अवसरों पर कारबन से जलने वाले आर्क लैम्प का उपयोग 'फोकस' के लिए किया जाता है । जहाँ 'डीमर' उपलब्ध होता है, वहाँ इच्छानुसार इसका उपयोग कर लिया जाता है । आम तौर पर यहाँ की अधिकतर अव्यवसायी संस्थाओं द्वारा रंगदीपन का कार्य इस प्रकार ही सम्पन्न किया जाता है ।

स्पष्ट है कि इस तरह की विधि अपेक्षित प्रभाव की उत्पत्ति में सहायक नहीं हो सकती । इससे पूरा प्रकाश अवश्य मिल सकता है किंतु इच्छानुसार प्रभावोत्पादक ढंग से उपयोग की गुंजाइश इसमें तनिक भी नहीं रहती ।

प्रश्न उठता है कि रंगमंच पर समुचित प्रकाश-व्यवस्था के लिए बिजली की बत्तियाँ कहाँ और कैसे लगायी जानी चाहिये ? इस कार्य के विशेषज्ञ भिन्न-भिन्न रूप में इस प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं किंतु इस मूल बात पर मतभेद नगण्य-सा है कि कोई भी बत्ती दर्शक की आँख के सामने नहीं आनी चाहिये । रंगमंच पर प्रकाश-व्यवस्था का उद्देश्य 'दिखाना' नहीं, 'छिपाना' होता है । इस दृष्टि से आवश्यकतानुसार बत्तियाँ लगाने का एक स्थान अग्रिम पखवाइयों के मत्थे के पीछे नीचे की ओर होता है और दूसरा स्थान रंगमंच के पार्श्वमें पखवाइयों के पीछे मनुष्य की औसत ऊंचाई से ऊपर। तल दीप भी लगाये जाने चाहिये किंतु प्रकाश-स्रोत समझ कर नहीं बल्कि ऊपर की बत्तियों से फैलनेवाले प्रकाश अथवा पार्श्व की बत्तियों के प्रकाश से उत्पन्न होनेवाली छाया (अभिनेता की) को दबाने के लिए । यह साधारण व्यवस्था है जिसमें इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि ऊपर से लटकायी जाने वाली बत्तियाँ आवश्यकता से अधिक ऊँचाई पर न हों।

यह व्यवस्था चित्र का ढाँचा मात्र है । इसको अलंकृत करने और इसमें रंग भरने का काम विशेष उपकरणों द्वारा सम्पन्न किया जाता है क्योंकि उपर्युक्त व्यवस्था, भावना और वातावरण नहीं प्रकट कर सकती, वह प्रकाश की सीमाओं को अवश्य दिखा सकती है । अलंकरण-कार्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : (१) अभिनेता को प्रकाश में रखना और (२) सेट को उज्ज्वल दिखलाना । इन दोनों कार्यों के सम्पादन

की विधियाँ अनेक हैं किंतु रंगदीपन-कार्य-विशेषज्ञ श्री फ्रेड्रिक बेंथम के इस कथन से कोई असहमत न होगा कि उपर्युक्त दोनों कार्यों के लिए उपकरण यथासम्भव पृथक्-पृथक् होने चाहिये।

अभिनेता पर प्रकाश डालने के लिए सबसे अच्छा स्थान दर्शकभवन में रंगमंच की अग्रिम पखवाइयों से कुछ दूर इतनी ऊंचाई पर होता है जहाँ से फोकस लैम्प का प्रकाश २५ अंश से ४५ अंश का कोण बनाते हुए रंगमंच के अभिनय-स्थल पर गिराया जा सके। यहाँ से फोकस लैम्प अथवा 'मिरर स्पाट' द्वारा फेका गया प्रकाश अभिनेता की भाव-भंगिमा और मुद्रा को स्पष्ट दर्शाने में बहुत सहायक होता है। किंतु फोकस लैम्प या 'मिरर स्पाट' दोनों छोर पर लगाया जाना चाहिये अन्यथा अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो जायंगी स्थान बदलने पर भी ऐसी ही दशा का सामना करना पड़ेगा; क्योंकि सामने से प्रकाश फेंकने पर अभिनेता छायारहित हो जायगा। फलतः वह सपाट दिखाई देने लगेगा। यदि पार्श्व से अभिनेता की ऊंचाई से प्रकाश फेंका जायगा तो सेट, प्रतिच्छाया-दोष के कारण विकृत हो जायगा। अतः उपयुक्त स्थान वही है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है।

एक छोर से ही प्रकाश फेंकने पर विकृतियाँ पैदा होने की बात कही जा चुकी है। ऐसी दशा में रंगमंच के पार्श्व की दीवार की ओर मुँह करके खड़े अभिनेता के मुख का काफी भाग तथा शरीर के सामने का हिस्सा अंधकार में पड़ जायगा। दूसरे

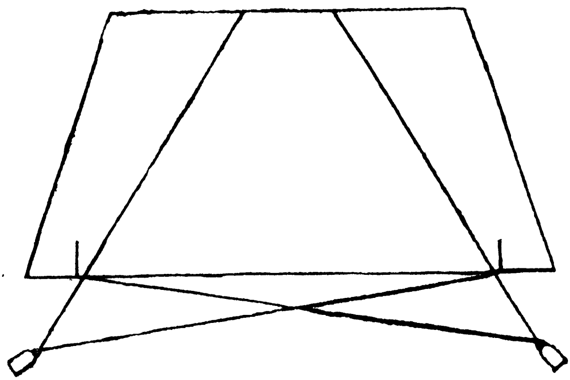

खाका : २६

छोर से भी पहले छोर की भांति फोकस लैम्प से प्रकाश फेंकने पर यह दोष नहीं रहेगा किंतु

शर्त यह है कि दोनों ओर का प्रकाश समान रूप में तीव्र न रहे अन्यथा दो फोकस लैम्प इस्तेमाल करने के बावजूद अभिनेता वैसा ही नजर आयेगा जैसा सामने से एक ही फोकस लैम्प द्वारा प्रकाश फेकने के बाद वह नजर आ सकता है । अतः एक ओर के फोकस लैम्प का प्रकाश तीव्र तथा दूसरे ओर के फोकस लम्प का प्रकाश, पहले के प्रकाश की तुलना में तनिक मद्धिम होना चाहिये । तीव्र प्रकाश यदि पीत-मिश्रित गुलाबी रंग का तथा दूसरी ओर सादा प्रकाश हो, तो असर पर्याप्त प्रभावोत्पादक और नेत्र रंजक होगा (खाका: २६)।

प्रकाश की जिस साधारण व्यवस्था का उल्लेख पहले किया जा चुका है, सेट पर प्रकाश डालने के लिए यह पर्याप्त हो सकती हैं किंतु इस सम्बंध में कुछ विशेष बातों पर भी ध्यान रखना चाहिये । यदि छत के स्थान पर झालरें लटकायी गयीं हों तो प्रत्येक झालर के पीछे लगायी गयी बत्तियों से फैलने वाले प्रकाश-परिमाण में संतुलन रखना चाहिये, अन्यथा वातावरण में धब्बा दिखाई देने लगेगा । यह कार्य आसान नहीं है । झालरों के स्थान पर छत लगाकर (खाका: १८) इस कठिनाई से मुक्ति पायी जा सकती है । छत, झालर की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होती है क्योंकि झालर, मकान के बाहर अथवा आकाश के नीचे के दृश्य में जंचती कम है । मकान के अंदर के दृश्य में तो वह बिल्कुल ही नहीं जंचती है । अधिकतर नाटकों में मकान के अंदर के दृश्य ही अधिक होते हैं, अतः एक बार छत का ढांचा तैयार करने के बाद बार-बार उसको इस्तेमाल में लाया

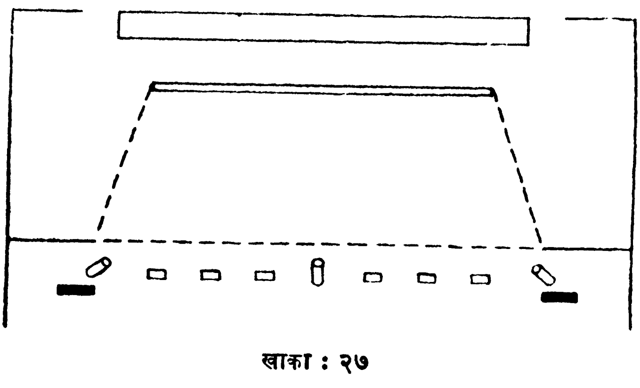

खाका : २७

जा सकता है; क्योंकि आवश्यकतानुसार उसके रंग-रूप को बदलना टेढ़ा काम नहीं है । ऐसी दशा में अग्रिम पखवाई के मत्थे के पीछे 'फ्लड लाइट' और मद्धिम फोकस लाइट की

कतार तथा दोनों ओर की अग्रिम पखवाईयों के पीछे एक-एक फोकस, लैम्प एक हजार वाट की बत्ती का, लगाने से पूरा सेट दीप्त हो जायगा । पृष्ठभाग को प्रकाशित करने के लिए छत से लटकायी जानेवाली झालर (छत अभिनय-स्थल के दो-तिहाई भाग को ढँकने वाली होनी चाहिये) के पीछे फ्लड लाइट की कतारें ऊपर से लटकायीं जा सकती है (खाका: २७) ।

प्रकाश-व्यवस्था में 'फ्लड लाइट' (बहिया बत्ती) बहुत उपयोगी होती है । यह है क्या ? परावर्तक(रिफ्लेक्टर) से तीन ओर से घिरी साधारण बत्ती फ्लड लाइट (बहिया बत्ती) कहलाती है । इसका समुचित उपयोग तभी सम्भव हो सकता है, जब यह ज्ञात रहे कि किस प्रकार का रिफ्लेक्टर लगाने से उससे टकरा कर बाहर आने वाली प्रकाश किरणें किस रूप में फैलती हैं ।

रिफ्लेक्टर तीन प्रकार के होते हैं । एक से प्रकाश दो ओर फैलता है (खाका : २८) । दूसरे रिफ्लेक्टर से उद्भासित परावर्तक किरणें समानान्तर होती है (खाका : २९) और तीसरे रिफ्लेक्टर की परावर्तक किरणें दो त्रिकोणात्मक स्थल पर फैलती है (खाका : ३०) ।

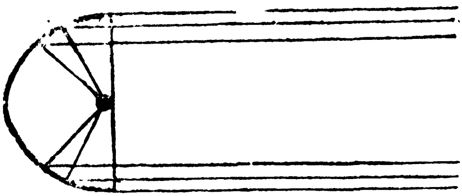

खाका : २९

खाका : ३०

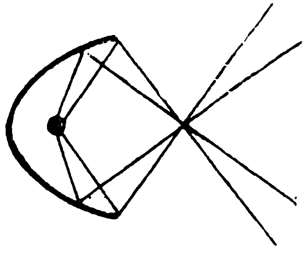

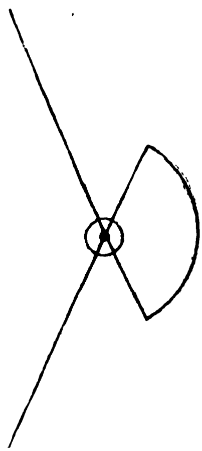

खाका : २८

रिफ्लेक्टर अनेक प्रकार से बनते हैं । स्याही सोख से लेकर बढ़िया निकल प्लेट तक का उपयोग इसको बनाने में किया जा सकता है । काम आती है, चमक । जिस रिफ्लेक्टर में जितनी चमक होगी, उससे टकरा कर फैलने वाला प्रकाश भी परिमाण में उतना ही अधिक होगा लेकिन शर्त यह है कि रिफ्लेक्टर की सतह समान और चिकनी हो । ऊँची-नीची सतह वाले रिफ्लेक्टर से टकराकर लौटनेवाली प्रकाश-किरणों का का प्रभाव भी पृथक होगा । इन बातों पर ध्यान रखते हुए 'फलड लाइट' अथवा बहिया बत्ती का उपयोग आवश्यकतानुसार सुविधापूर्वक किगा जा सकता है ।

रिफ्लेक्टर तभी भलीभांति कारगर सिद्ध हो सकता है जब बक्सानुमा किसी चीज में लगाकर उसका उपयोग किया जाय । केवल रिफ्लेक्टर के सामने बिजली की बत्ती लगाने से प्रकाश तो बढ़ता है किंतु ऊपर की ओर फैलने के कारण प्रकाश की पर्याप्त तीव्रता नष्ट भी हो जाती है ।

'डीमर', जिसको मंदक कहा जा सकता है, एक ही सरकिट के प्रकाश को धीरे-धीरे मद्धिम करते हुए समाप्त कर सकता है और इसी प्रकार क्रमशः प्रकाश बढ़ाते हुए पूरा प्रकाश फैला भी सकता है । साधारण अवस्था में उसका उपयोग भले ही कर लिया जाय किंतु वास्तव में इसके उपयोग की महत्ता रंगीन प्रकाश के अन्तर्गत ही प्रकट हो सकती है । लेकिन अभी अव्यवसायी रंगमंचों पर यहाँ इसका उपयोग बढ़ने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि बड़े-बड़े शहरों में भी एक 'डीमर' मिलना कठिन हो जाता है । रंगीन प्रकाश-व्यवस्था के लिए तो एक साथ कई 'डीमर' आवश्यक होते हैं । चाहे जितना भी सिमट कर काम किया जाय, दो 'डीमर' एक साथ चलाने ही होंगे, तभी दो विभिन्न रंगों का प्रकाश एक में मिलाया जा सकेगा और तीसरा रंग दर्शाया जा सकेगा । इस अवस्था में भी केवल दो सरकिटों से ही काम लिया जा सकेगा जबकि रंगीन प्रकाश-व्यवस्था में तीन रंग—लाल, हरा और नीला प्रयुक्त होते हैं । रंगमंच पर इन तीनों रंग की बत्तियों का एक साथ प्रयोग जिन्होंने देखा है, वे कह सकते हैं कि सूर्यास्त का प्रभावोत्पादक वातावरण पैदा करने की इनमें कितनी अधिक क्षमता है । किंतु यह काम 'डीमर' ही कर सकता है। इस तरह का प्रयोग अभीष्ट हो, तो तीन 'डीमर' केवल नीचे की बत्तियों के लिए आवश्यक होंगे जबकि ऊपर की बत्तियों को उपयोग में लाये बिना वांछित दृश्य-प्रभाव प्रस्तुत न किया

जा सकेगा, अतः पूरे कार्य के लिए छः 'डीमर' होने ही चाहिये। इससे ही यहाँ के अव्यवसायी रंगमंचों की कठिनाई का अनुमान लगागा जा सकता है।

'काम चलाऊ' डीमर से काम लेने की पद्धति भी यहाँ प्रचलित है जो सोडा और सूराखदार पाइप की सहायता से बनाया जाता है। जबकि आजकल २३० वोल्ट (ए. सी.) का प्रयोग रंगमंच पर प्रचलित है, इस तरह का 'डीमर' खतरनाक भी साबित हो सकता है। ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो इसकी विधि से भलीभांति परिचित न हो 'काम चलाऊ' 'डीमर' का उपयोग नहीं करना चाहिये, अन्यथा खतरा हो सकता है।

रंगमंच पर रंगीन प्रकाश-व्यवस्था रंगों के समुचित उपयोग एवं मिश्रण-प्रभाव के ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। इसका गलत उपयोग लाभ के स्थान पर हानि पहुंचाता है और दर्शकों पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। एक सफेद पर्दे पर यदि पूरा लाल और हरा प्रकाश फेंका जाय तो पर्दा पीला नजर आयेगा। दूसरी बार यही काम दोहराने से पहले एक मिनट के लिए पहले हरा प्रकाश फेंक दिया जाय और तब लाल प्रकाश फेका जाय तो दर्शक को पर्दा नारंगी रंग का नजर आयेगा। एक मिनट के लिए पर्दे पर केवल लाल प्रकाश फेंक कर पुनः उपर्युक्त क्रम को दोहराया जाय तो पर्दा हल्के हरे रंग का नजर आयेगा। इसका विश्लेषण रंगाभास के सिद्धांत में मिल सकता है।

यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी दृश्य में प्रकाश-व्यवस्था पर कल्पना-विशेष की छाप होनी ही चाहिये। फिर भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि प्रकाश-व्यवस्था की सफलता, उसके तात्कालिक प्रभाव पर आधारित मानी जानी चाहिये। पर्दा उठने के साथ ही वस्तुस्थिति का आभास मिलना ही चाहिये और यह स्पष्ट होना चाहिये कि समय दिन का है अथवा रात का; मौसिम जाड़े का है या गर्मी का; दिन सुहावना है अथवा गर्द-गुब्बार से भरा है, मध्याह्न का सूर्य चमक रहा है अथवा शाम की ठंडी हवा बह रही है।

ऐसे प्रभाव उत्पन्न करने के लिए मैजिक लालटेन, बेबी फ्लड, प्रिसीजन आप्टीकल प्रोजेक्टर, तथा विभिन्न प्रकार की स्पाट लाइट (स्थल बत्ती) की आवश्यकता भी होती है। रंग बदलने के लिए रंगीन शीशा भी होने चाहिये जो स्पाट लाइट के आगे

माथारहित चौखट की भांति मजबूती से लगे ढांचे में बैठाया जा सकता हो। रंगीन शीशा इस समय दुर्लभ है, अतः जिलेट पेपर का प्रचलन बढ़ गया है किंतु यह कागज अधिक तेज बत्तियों का ताप सह नहीं पाता और जल जाता है। कमजोर बत्तियों के आगे इसको लगाया जा सकता है। तेज बत्तियों के आगे यह पंद्रह बीस या तीस मिनट से अधिक नहीं टिक सकता। यदि सेलोलाइट के रंगीन प्लेट मिल जायं तो जिलट पेपर के स्थान पर उनका उपयोग अधिक लाभदायक सिद्ध होगा।

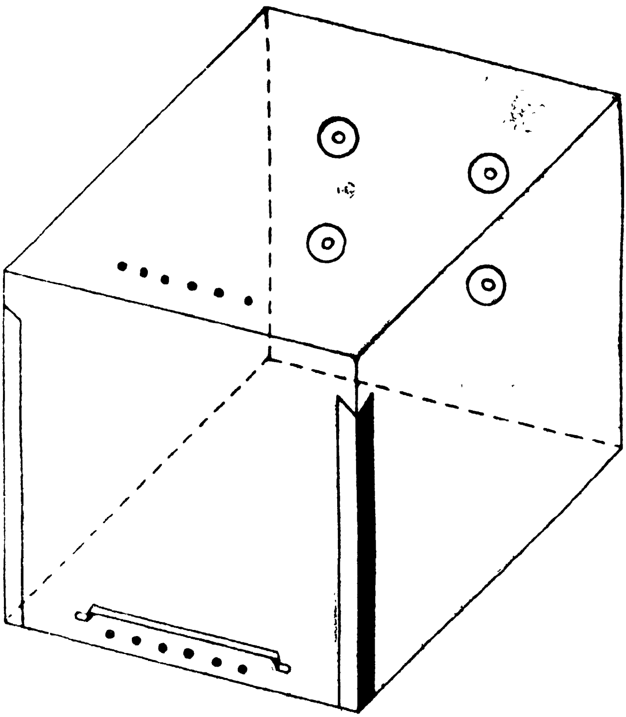

खाका : ३१

विशेष प्रभाव उत्पन्न करने वाले जिन विद्युत् उपकरणों का उल्लेख ऊपर किया गया है, यहाँ की अधिकतर अव्यवसायी नाट्य संस्थाएं शायद ही उन्हें देख भी पाती हों। यह बहुत बड़ी कठिनाई है जो धैर्य के साथ धन एकत्र करने के बाद ही दूर

की जा सकती है । इस बीच भी केवल फुट लाइट, हेडलाइट और साइड लाइट की व्यवस्था से नाट्य संस्थाओं को संतुष्ट नहीं रहना चाहिये । इनके संचालकों तथा निर्देशकों को यह तथ्य हृदयंगम कर लेना चाहिये कि रंगमंच पर फुट लाइट और हेड लाइट आदि के बिना काम चल भी सकता है लेकिन फ्लड लाइड और फोक्स लैम्प के बिना काम नहीं चल सकता । इन दोनों का प्रबंध थोड़ा-सा प्रयास करने वाली नाट्य संस्थाएं आसानी से कर सकती हैं । फ्लड लाइट के लिए उपयुक्त उपकरण, चमकदार टिन अथवा प्लाइउड आदि से बढ़ई का सहारा लेकर सरलता से बनाया जा सकता है । बिस्कुट का बड़ा डब्बा यदि मिल जाय तो काम काफी सरल हो जायगा । ऐसे डब्बे की पीठ में चार होल्डर जगह बाँटकर लगा देने, बिजली की बत्ती की गर्मी को समाप्त करने के लिए डिब्बे के अग्रिम भाग की ओर जिधर डब्बे का मुंह खुला हो, नीचे ऊपर हवा के प्रवेश के लिए सूराख बना देने, तथा छिद्रों के ऊपर कुछ स्थान छोड़ कर, उन पर ढक्कन ऐसी लोहे की पत्ती लगा देने से फ्लड लाइट का बक्सा सहज ही तैयार हो जायगा (खाका—३१) । रंगीन स्लाइड लगाने के लिए डब्बे के मुंह पर अगल-बगल पकड़ लगायी जा सकती है जैसी खाका—३१ में दिखाई गयी है । होल्डर चार की जगह तीन और दो भी लगाये जा सकते हैं । डब्बा छोटा हो तो एक होल्डर लगाना चाहिये । गहराई इसकी इतनी होनी चाहिये कि १०० वाट या १५० वाट का साधारण बल्ब मुंह सामने करके होल्डर में बैठा दिया जाय तो वह डब्बे के बाहर न निकले । बिजली का लट्टू खड़ा नहीं लगाना चाहिये, क्योंकि इससे प्रकाश दब जाता है । खड़ा बल्ब लगाने पर स्टेज की ओर केवल आधा फिलामेंट रहेगा । शेष आधा के एक भाग का प्रकाश ही रिफ्लेक्टर पर पड़ेगा और उससे टकरा कर बाहर आयेगा ।

इस प्रकार की फ्लड लाइट से कई तरह के काम लिये जा सकते हैं । इससे दरवाजे में प्रकाश भरा जा सकता है, खिड़की के बाहर रखकर धूप का आभास पैदा किया जा सकता है, रंगमंच के स्थल-विशेष को अधिक प्रकाशवान किया जा सकता है । अग्रिम पखवाइयों के पीछे रंगमंच की ओर तथा पृष्ठभाग के पर्दे की आगे की झालर के पीछे लटका कर भी इनका उपयोग होता है । उपयोग यदि लटका कर करना हो तो इनको तार के सहारे लटकाना चाहिये । बंधन ऐसा होना चाहिये कि डब्बा हिलडुल न सके । भूमि पर रखकर इसका उपयोग करने के लिए पाइप के स्टैण्ड का सहारा लेना उपयुक्त

होता है। ऐसा स्टैण्ड भी साधारण बढ़ई और लोहार की सहायता से सुगमतापूर्वक बनाया जा सकता है (खाका–३२)। स्टैण्ड पर लगायी गयी फ्लड लाइट इच्छानुसार कहीं भी रखी जा सकती है किंतु इस बात पर ध्यान रखते हुए कि वह दर्शकों को दिखाई न दे।

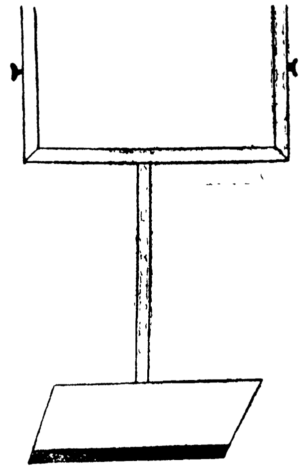

खाका : ३२

इस प्रकार ही थोड़ा-सा प्रयास करने पर कामचलाऊ फोकस-लैम्प भी तैयार हो जायगा।

काम चलाऊ फोकस-लैम्प बनाने के लिए ४॥" से ६" तक के एक फोटोग्राफिक लेंस, एक डब्बे तथा एक बने हुए स्लाइडर की आवश्यकता होगी। डब्बे की चद्दर मजबूत होनी चाहिये तथा वह लम्बा होना चाहिये। पहले उसके ऊपरी भाग की सतह लम्बाई में आगे की ओर कुछ छोड़ कर काट दे और फिर तीनों ओर से ऊपर के भाग को काटकर ढक्कन अलग कर दें। पुन: कब्जा लगाकर ढक्कन जोड़ दें। डब्बे के सामने के भाग में जिधर से प्रकाश फेंकना हो, फोटोग्राफिक लेंस के नाप का सुराख बना लें। इस सुराख पर फोटो ग्राफिक लेंस चारों ओर से चपकन लगाकर बैठा दें। लेंस का उभड़ा हुआ भाग बाहर की ओर अर्थात् जिधर प्रकाश फैलने वाला हो, उस ओर होना चाहिये (खाका–३३)। इसके पश्चात् डब्बे में स्लाइडर अर्थात् ऐसी परत बैठानी चाहिये

जिस पर लगा बल्ब काम के समय सुविधा पूर्वक आगे-पीछे हटाया-बढ़ाया जा सकता हो (खाका—३४) । इसके डब्बे में भी ऊपर अगल-बगल काफी सूराख होने चाहिये ताकि डब्बे में हवा बराबर पहुँचती रहें । ये सूराख भी फ्लड-लाइट के डब्बे के सूराखों की भाँति ढक देने चाहिये ।

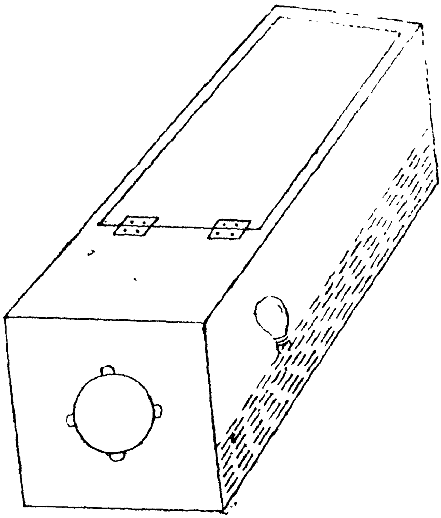

खाका : ३३

फोकस के लिए कम से कम पाँच सौ वाट का बल्ब लगाना पड़ता है । इसमें गर्मी बहुत होती है, अतः डब्बा सहज ही गरम हो सकता है । यह कठिनाई डब्बे के चारों ओर एसबस्टस शीट लगाकर हल की जा सकती है । इतना काम पूरा करनेके बाद स्लाइडर पर लगे होल्डर में बल्ब लगाकर तैयार उपकरण से फोकस-लैम्पका काम लिया जा सकता है। लेकिन यह उपयुक्त ढंग से काम तभी करेगा जब फोटोग्राफिक लेंस के पीछे स्लाइडर पर बल्ब का स्थान निश्चित करते समय इन बातों पर ध्यान रखा जायगा :—

लेंस का मध्यविंदु, बल्ब का फिलामेण्ट और रिफ्लेक्टर का केंद्र-विंदु समान अक्ष-रेखा पर हो; लेंस और बल्ब के बीच की दूरी २॥" या ३" से कम किसी भी दशा में न हो । 'रिफ्लेक्टर' बक्स के पिछले हिस्से से सटा न हो, और बल्ब का सिर बक्स की छत से सटा न हो ।

फ्लड-लाइट और फोकस लैम्प की सहायता से अनेक प्रभावोत्पादक दृश्यात्मक प्रभाव सहज ही उत्पन्न किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से बुद्धि अथवा गणना से अधिक, निरंतर अभ्यास सहायक होता है। सच तो यह है कि रंग-बिरंगे प्रभावोत्पादक प्रकाश-पुंज की छबि से मिलने वाला उत्साह प्रकृति से ही उपलब्ध होता है। इस पर दृष्टि रखने वाला व्यक्ति जो विद्युत्शक्ति के उपयोग से सम्बद्ध आरम्भिक बातें जानता हो, निरंतर अभ्यास करते हुए काफी आगे बढ़ सकता है। नाट्य संस्थाओं को ऐसे व्यक्ति को, यदि वह सदस्य हो, तो बराबर प्रोत्साहन देना चाहिये और यदि संस्था में उपर्युक्त जानकारी रखने वाला कोई व्यक्ति न हो, तो प्रयास कर के उसको खोजना चाहिये और संस्था का सदस्य बना लेना चाहिये।

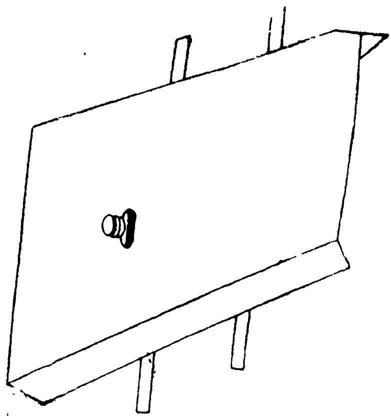

खाका : ३४

अंत में कुछ प्रकार के दृश्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की विधियों का उल्लेख करना अनुचित न होगा।

उषःकाल—रंगमंच पर उषःकाल का नयनाभिराम दृश्य सफेद पर्दे पर एक फ्लाट, फ्लड लाइट और डीमर की सहायता से सरलतापूर्वक दिखाया जा सकता है। पहले पृष्ठभाग पर सफेद पर्दा लटका दिया जाया। पर्दा खूब तान कर लगाना चाहिये ताकि कहीं भी सिकुड़न न रह जाय। इस पर्दे के आगे पूरे रंगमंच की लम्बाई का कम से कम चार फुट ऊँचा फ्लाट, जिस पर किसी नदी या मैदान का दृश्य चित्रित हो, आड़ा कर के इस प्रकार खड़ा करना चाहिये कि इसके ऊपर की पट्टी और पर्दे

के बीच रंध्र मोटे कागज की चौड़ाई से अधिक न रह जाय। इस फ्लाट के पीछे जमीन पर फ्लड लाइट लगाने से सफेद पर्दे पर नजर आनेवाली क्षितिज रेखा पर रक्तिमा उभड़ आयेगी। 'डीमर' की सहायता से आवश्यकतानुसार रक्तिमा को घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

सचल बादल——सचल बादल का दृश्यात्मक प्रभाव भलीभांति उत्पन्न करने के लिए आप्टिकल प्रोजेक्टर चाहिये ही। 'कामचलाऊ' प्रभाव स्पाट लाइट की सहायता से पैदा किया जा सकता है किन्तु दो-तीन स्लाइडों का जिन पर बादल चित्रित हों, उपयोग करना होगा। स्लाइडें एक-दूसरे के ऊपर रहें ताकि एक हटा ली जाय, तो दूसरी नजर आने लगे। स्लाइड को हटाने का क्रम बादल में गति पैदा करेगा। यह काम बहुत होशियारी से और अत्यंत कमजोर प्रकाश-पुंज की सहायता से पूरा करना चाहिये; ताकि स्लाइड की किसी धार का प्रतिबिंब पर्दे पर उभड़ न सके।

तारा——सितारों से भरा आकाश दिखाना हो तो पृष्ठभाग पर आसमानी रंग का पर्दा लगाकर उस के पीछे छः वोल्ट की काफी बत्तियाँ चारों ओर छितरा कर लगा देनी चाहियें। इन बत्तियों को जलाने के बाद रंगमंच पर पर्दे के आगे के भाग पर या तो हल्का नीला प्रकाश या बहुत मद्धिम सफेद प्रकाश फैलाना चाहिये। तब पर्दे के पीछे जलनेवाली बत्तियाँ तारों की भांति नजर आने लगेंगी। जहाँ बिजली ए. सी. अर्थात् आल्टरनेटिंग करेण्ट पर होगी, वहाँ छः वोल्ट की बत्तियों को जलाने के लिए ट्रांसफार्मर की आवश्यकता पड़ेगी।

तारों से भरा आकाश दिखाने की एक और भी सरल विधि है। इस विधि का उपयोग करने पर काम तो हल्का रहता है लेकिन कुछ खर्च जरूर बैठ जाता है। इस विधि में नीले रंग का केवल एक पर्दा प्रयुक्त होता है। पर्दे में बहुत छोटे-छोटे छिद्र कर दिये जाते हैं जो तारों की भांति चतुर्दिक फैले रहते हैं। ऐसे पर्दे को लटकाने के बाद उसके पीछे प्रकाश कर देने पर पर्दे के सामने से आकाश पर तारे छिटके नजर आने लगते हैं। इस सरल विधि से प्राय: काम लिया जाता है।

पहाड़——दूर से नजर आने वाला पहाड़ दिखाने के लिए रंगमंच की भूमि से बाहर पार्श्व में पखवाइयों की आड़ में दोनों ओर पहाड़ के छोटे-छोटे कट इस तरह सजा कर रख देने चाहिये कि दर्शक उन्हें देख न सके। फ्लड-लाइट की सहायता से इनकी छाया को पृष्ठभाग के पर्दे पर पहुँचाने के बाद पहाड़ का दृश्य नजर आने

लगेगा । इस प्रयोग के समय वे बत्तियाँ मद्धिम कर देनी चाहिएँ जो छाया को मारने के लिए लगायी गयी हों ।

इस तरह सैकड़ों प्रयोग किये जा सकते हैं । विदेशों में इनका प्रचलन बढ़ रहा है । वहाँ रंगमंच पर विद्युत् उपकरणों का उपयोग प्रधान हो गया है । इनकी सहायता से चमत्कारपूर्ण दृश्यात्मक आभास सहज ही रंगमंच पर प्रस्तुत कर दिया जाता है ।

अभिनय

●

'दि आर्ट ऑव दि प्ले' के प्रसिद्ध लेखक 'हरमौन ओल्ड' (Hermon Old) का यह कथन बिलकुल सही है कि नाटक देखने वाले दर्शक "अभिनय" का बिलकुल गलत अर्थ समझते हैं। यह सही है कि "ऐसे नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें कुछ हो ही नहीं" लेकिन यह भी गलत नहीं है कि जिस नाटक के लम्बे-लम्बे टुकड़े निष्क्रियता से भरे हों, वह अनाटकीय और अरुचिकर होता है। लेकिन सक्रियता अर्थात् अभिनय का अर्थ शारीरिक हरकत नहीं हो सकता, जैसा कि बहुधा समझा जाता है। पूर्ण निश्चलता प्रायः नाटकीय होती है किन्तु शारीरिक हरकत में बहुधा नाटकीयता अथवा नाटकीय महत्त्व का अभाव होता है। आम तौर पर साधारण जीवन में जितनी शारीरिक हरकत होती है, निश्चय ही रंगमंच पर यह उससे कम होनी चाहिये क्योंकि साधारण जीवनमें बात-बात पर नजर आनेवाली शारीरिक हरकत निरर्थक होती है—हावभाव का कोई अर्थ नहीं होता। स्कूल, कालेज, रेस्तराँ, दफ्तर अथवा अन्य कहीं युवकों की टोली को ध्यान से देखने पर उपर्युक्त कथन का अर्थ समझ में आ जायेगा। ऐसे किसी स्थान पर भी जुटी युवकों की टोली बात-बात पर हाथ पैर फटकारते, विचित्र-विचित्र प्रकार की मुद्रा बनाते नजर आयेगी। इनमें से कोई बड़े दर्पण के सामने बैठा होगा तो निश्चित रूप से अभिनेता बनने का अभ्यास करता नजर आयेगा। कभी वह बालों पर हाथ फेरेगा, कभी विचित्र प्रकार से मुँह टेढ़ा कर के अपने साथियों की ओर देखेगा, कभी कहता होगा कुछ सामने बैठे साथी से किंतु दृष्टि गड़ाये बैठा होगा होटल की छत पर, 'ककहरा' से भेंट नहीं हुई होगी लेकिन बनता दिखाई देगा 'फिलासफर'। और तो और, रंगमंच पर दो-चार बार उतर चुकनेवाले किसी

मनचले युवक से चलते-चलाते कहीं सड़क पर भेंट हो जाय तो देखिये तमाशा। हजरत सड़क को ही रंगमंच मानकर बेमतलब हाथ-पैर फटकारते नजर आने लगेंगे। इसका कारण यही है कि 'अभिनय' के सम्बन्ध में बहुत गलत धारणा साधारण लोगों के दिल में बैठी है। अव्यवसायी नाट्य संस्थाओं के नौसिखुआ अभिनेता और भी अधिक भ्रम के का शिकार हैं।

इस सम्बन्ध में यह बात कभी भी भुलानी नहीं चाहिये कि रंगमंच पर अभिनेता का हाव-भाव अथवा उसकी शारीरिक हरकत यदि दर्शकों के दिलमें तत्काल बोधगम्य अर्थ नहीं बैठाती तो वह निरर्थक ही नहीं भ्रमोत्पादक भी होती है। वह बेजान होती है, निरुद्देश्य और निर्लक्ष्य होती है। इस तरह का हावभाव न केवल निरर्थक और बेकार होता है बल्कि गत्यात्मकता पर भी इसका प्रभाव अत्यंत अनिष्टकारी होता है। समझ में बैठाने की बात यह है कि नाटक चाहे जितना भी असम्बद्ध हो, नाटकीय सूत्र एकबद्ध होना ही चाहिये; अन्यथा नाटक की नाटकीयता और सारे प्रयास की हत्या हो जायगी। यह नाटकीय सूत्र क्रमबद्ध गतिशीलता के माध्यम से ही एकबद्ध रखा जा सकता है।

[यह चित्र तिरछी रेखा पर आधारित है जो क्रियाशीलता का भान कराती है। इसमें दृष्टिगत एक-एक व्यक्ति क्रियाशील है; किन्तु आकर्षण-केन्द्र है शीशी से पदार्थ गिराने की क्रिया। रंगमंच पर उपयुक्त समूहीकरण के साथ अभिनय का ऐसा सामञ्जस्य दृश्य को सजीव बना देता है।]

[यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि निश्चेष्ट शरीर की अपेक्षा शारीरिक हलचल में आकर्षण अधिक होता है। समूहीकरण ठीक हो किन्तु अभिनय मे विकृति हो तो समूहीकरण से अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त चित्र में प्रत्येक पात्र ऐसी मुद्रा मे नजर आता है जिसमें तत्काल किसी न किसी परिवर्तन की कल्पना दर्शक को करनी होगी; क्योंकि प्रत्येक पात्र की स्थिति असाधारण है।

अत्यधिक गतिशील पात्र अकेला है, लेकिन वह रंगमंच के सबल भाग पर है। सामने के पात्र संख्या में अधिक हैं लेकिन रंगमंच का भाग दुर्बल है। इस प्रकार समूहीकरण संतुलित हो गया है।]

किसी दृश्य की समाप्ति के समय पर्दा गिरने अथवा दृश्य परिवर्तन के लिए रंगमंच पर अंधकार फैलाये जाने पर अभिनेता की शारीरिक हरकत रुक जाती है। इस समय तक नाट्यकार द्वारा दर्शकों में जो भावनाएँ उत्पन्न कर दी जाती हैं, अथवा जो विचार पैदा कर दिये जाते हैं, वह उनके मन में घूमते ही रहने चाहिये ताकि पर्दा उठने अथवा दूसरे दृश्य के आरम्भ होने पर दर्शक का दिमाग आप से आप चैतन्य हो जाय और वह उत्सुकता से भर जाय। यही नाटक की गतिशीलता है जिसको एकबद्ध नाटकीय सूत्र से, अभिनय से जीवन मिलता है।

यह निर्विवाद है कि अभिनय का अर्थ शारीरिक हरकत मात्र नहीं है। अधिक से अधिक यही मानना चाहिये कि शारीरिक हरकत भी अभिनय में अन्तर्भुक्त होती है। यों ही तलवार को हाथ में उठा कर देखना एक बात है और अपने अजीज

दोस्त की कायरतापूण हत्या का समाचार सुनते ही झपट कर तलवार को उठाना दूसरी बात । पहली दशा कोई नाटकीय प्रभाव नहीं उत्पन्न करती किंतु दूसरी दशा में दर्शक सोच सकता है कि झपट कर तलवार उठाने की क्रिया बदला लेने की तीव्र भावना के उद्वेग का परिणाम है । इसका अर्थ सिवा इसके और हो क्या सकता है कि अभिनय की सार्थकता, दर्शक की मानसिक और भावात्मक गतिशीलता को क्रमबद्ध रखने में ही है ?

इस दृष्टि से भारतीय साहित्य रिक्त नहीं है और यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि नेत्राभिनय और हस्तमुद्राभिनय के क्षेत्र में आज भी सम्भवतः

[रंगमंच पर न्यायालय के दृश्य का संयोजन प्रायः इस प्रकार ही किया जाता है । किन्तु इस तरह का समूहीकरण दोषपूर्ण होता है । चित्र में निष्क्रिय पात्र न्यायाधीश के पार्श्व में खड़े नजर आते हैं । न्यायाधीश वकील के स्थान पर कुछ तिरछा होता तो, रंगमंच के मध्य भाग पर पार्श्व में खड़े लोगों के लिए स्थान की व्यवस्था हो जाती ।]

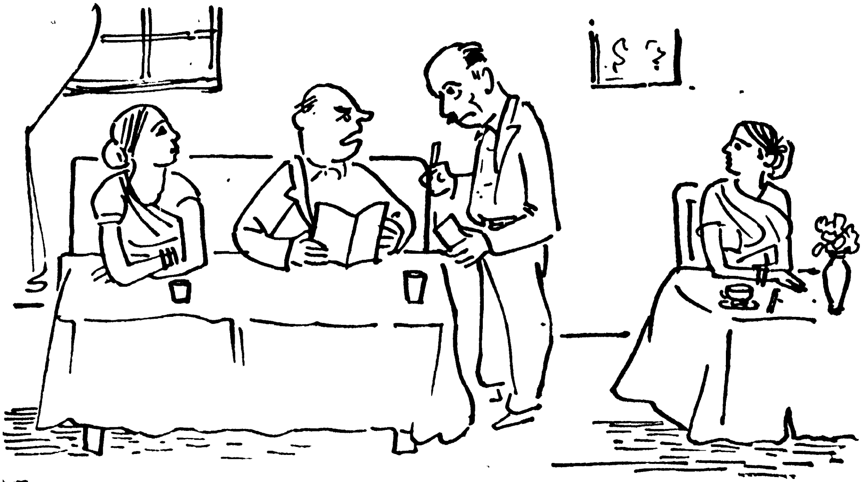

[यह चित्र प्रत्याकर्षण व्यवस्था दर्शाता है। सामान्य दशा में आकर्षण-केन्द्र वाम पार्श्व की महिला की ओर होता किन्तु मध्य भाग के समीप खड़े पात्र की ओर अन्य पात्रों के दृष्टि-निक्षेप के कारण प्रभाव में अन्तर आ गया। इसमें व्यतिक्रम दृश्य की एक रसता में व्याघात पहुँचा सकता है। खड़े व्यक्ति का रूप दयनीय स्थिति का बोध कराता है; क्योंकि उसके चित्र में स्थिरता की प्रधानता है हलचल की नहीं।)

कोई देश भारत की समता नहीं कर सकता। 'भरतनाट्यम्' (नृत्य) इसका प्रमाण है। अभिनय ही इस नृत्य का प्राण है और मूलतः यह नेत्राभिनय और हस्तमुद्राभिनय पर ही आधारित है। कदाचित् इसलिए ही इसको नृत्त अथवा नृत्य न मान कर 'नाट्य' माना जाता है। भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र का थोड़ा-सा ज्ञान रखनेवालों ने मुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार नृत्त, नृत्य और नाट्य की जो परिभाषा बतायी है, वह इस प्रकार है——

"नृत्त का अर्थ है, वह नाच जिसमें केवल अंग-संचालन हो, भाव प्रकाशन न हो, भाव न 'बताया' जाय। नृत्य उस नाच को कहते हैं, जिसमें भाव भी बताया जाय। 'नाट्य' उसे कहते हैं जिसमें भाव भी 'बताया' जाय और गाया भी जाय; अर्थात् अंग और वाणी दोनों के द्वारा भाव प्रकाशन हो ('भरत नाट्यम्' में नृत्यकार के साथ संगत करनेवालों द्वारा गाने की शैली प्रचलित है)।"

यह परिभाषा मैंने अपने मित्र और रस-साहित्य के मर्मज्ञ अध्येता स्वर्गीय श्री बलदेव प्रसाद मिश्र द्वारा 'पंचानन' के नाम से लिखे गये 'नाट्य-शास्त्र में नेत्राभिनय' शीर्षक लेख से ली है। यह लेख 'त्रिपथगा' मासिक के अक्तूबर १९५५ के अंक में प्रकाशित हुआ था। लेख मौलिक नहीं है। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के आठवें अध्याय में नेत्राभिनय का जो विधान है, स्वर्गीय मिश्र जी ने उसको ही लेखबद्ध कर के प्रस्तुत किया था। हिंदी साहित्य में अपने ढंग का यह अकेला प्रयास था।

इस विषय पर यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है, वह स्वर्गीय मिश्र जी के उपर्युक्त लेख का अंश ही समझा जाना चाहिये।

'शांत' को छोड़कर शेष आठ रसों का (जिन्हें भरतमुनि ने उपयोगी माना है) अभिनय नेत्र से किया जायगा तो आठ प्रकार की दृष्टियाँ होंगी। 'रस' और उनका अभिनय करने वाली दृष्टियों के नाम ये हैं :--

रस	दृष्टि
१. श्रृंगार	कांता
२. भयानक	भयानका
३. हास्य	हास्या
४. करुण	करुणा
५. अद्भुत्	अद्भुता
६. रौद्र	रौद्री
७. वीर	वीरा
८. वीभत्स	वीभत्सा

परिभाषा

कान्ता--यह दृष्टि रस में होती है। हर्ष और प्रसाद (अनुग्रह) से यह उत्पन्न होती है। इसमें कामातुरता अधिक होती है। भ्रू-क्षेप और कटाक्ष भी इसमें होते हैं।

भयानका--भयानक रस की दृष्टि में पलकें खूब खुली और स्तब्ध रहती हैं। आँख के तारे बीच-बीच में चंचल होते हैं। आँखों से बहुत भय टपकता है।

हास्या--पलकें क्रम से सिकुड़ती-सी और आँख के तारे बहुत चंचल होते हैं।

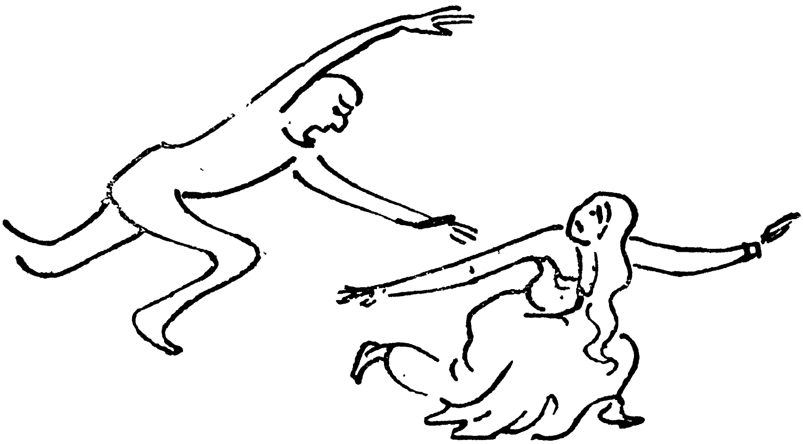

[यह चित्र आक्रमण और बचाव के दृश्य में रंगमंच पर संतुलन बनाये रखने के लिए अपेक्षित अभिनय-मुद्रा को प्रकट करता है। आक्रामक ऐसी मुद्रा में है, जिसमें वह अधिक देर तक नहीं रह सकता। इससे तीव्र आवेग का भान होता है। आक्रांत में पलायन के उद्योग के बावजूद स्थिरता है, जो उसकी भयाकुल दशा को स्पष्ट करती है (विरोधाभास) और जो संतुलन के लिए आवश्यक है।]

करुणा—इस दृष्टि में पलकें झुकी रह कर भी खुली रहती हैं। आँख गीली रहती है। तारे क्रोध के कारण स्तब्ध रहते हैं। दृष्टि, नासिका के अग्रभाग की ओर होती है।

अद्भुता—इस दृष्टि में पलकों का अग्रभाग जैसे आकुंचित-सा रहता है। तारे फैले रहते हैं। सम्पूर्ण दृष्टि में सौम्यता रहती है और दृष्टि खिली-सी रहती है।

रौद्री—इस दृष्टि में क्रूरता, रूखापन और ललाई होती है। तारे स्थिर और दीप्त होते हैं। भृकुटी कुटिल होती है।

वीरा—यह दृष्टि दीप्त, विकसित, क्षुब्ध, गम्भीर होती है। तारे आँख के मध्य में स्थिर होते हैं। यह दृष्टि मध्य भाग में खिली-सी होती है।

वीभत्सा—इस दृष्टि में आँखों के अंतिम भाग बंद से रहते हैं। तारे घृणा से युक्त रहते हैं। पलकें एक-दूसरे से मिली-सी रहती हैं।

आठ रसों की दृष्टियों के बाद मुनि ने उनके स्थायी भावों का वर्णन किया है। इनका सम्बन्ध साहित्य से है, अतः इसको छोड़ कर वह वर्णन प्रस्तुत किया जा

रहा है जो संचारिणी दृष्टियों के सम्बन्ध में है। संचारी भावों की दृष्टियाँ इस प्रकार हैं--

शून्या--इस दृष्टि में आँख के तारे और पलकें स्वाभाविक स्थिति में रहती हैं। आँख झपकती नहीं, वह कुछ देखती भी नहीं। यह चिंता और स्तम्भ-भाव प्रकट करती है।

मलिना--पलकों के अंत, इस दृष्टि में कंपते हैं। आँखें बहुत मुकुलित नहीं रहतीं। तारे विस्मय प्रकट करते हैं। यह निर्वेद और विवर्णता प्रकट करती है।

श्रांता--इस दृष्टि में आँखें श्रम से मुरझायी-सी रहती हैं। आँखें कुछ सूखी-सूखी-सी रहती हैं। अवसाद भरा रहता है। तारे नीचे की ओर देखते-से रहते हैं। श्रम, आर्त्ति, स्वेद और लज्जा-भाव प्रकट करती है।

लज्जान्विता--पलकों का अग्रभाग जरा झुका रहता है। तारे नीचे की ओर होते हैं। यह दृष्टि लज्जा भाव प्रकट करती है।

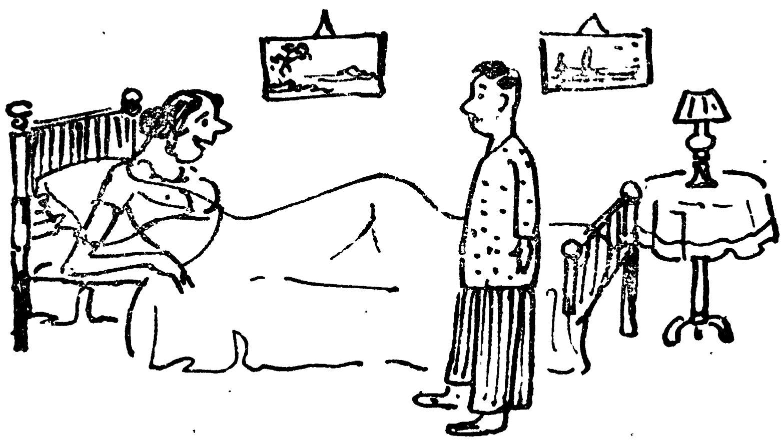

[रंगमंच पर आकर्षण-स्थल की व्यवस्था के अनुसार अग्रिम मध्य भाग पर खड़े पुरुष को आकर्षण का केन्द्र होना चाहिये, किन्तु एक दम सीधा खड़ा होने के कारण उसमें हलचल का अभाव है। सामने की महिला शरीरिक हलचल के कारण आकर्षण-केन्द्र की दृष्टि से प्रमुख हो गयी है। इन दोनों में हरकत की दृष्टि से वही अन्तर है जो तिरछी रेखा और लम्ब (सीधी खड़ी रेखा) के बीच होता है।]

[समूह दृश्य में विरोधाभास के द्वारा संयुक्तीकरण का दृश्य। चित्र में काली पोशाकवाली महिला अन्य सब पात्रों को हरकत की दृष्टि से एक दूसरे से मिला देती है।]

ग्लाना—भौंह, पलक और बरुनी कुछ म्लान होती है। दृष्टि-शिथिल और मंदगति वाली होती है। तारों से अवसाद बरसता है। इसको 'ग्लाना दृष्टि' कहते हैं। यह अपस्मार, व्याधि और ग्लानि का भाव प्रकट करती है।

शंकिता—कुछ चंचल, कुछ स्थिर, कुछ ऊपर की ओर देखनेवाली, कुछ फैली, रहस्यभरी, चंचल, तारोंवाली दृष्टि को 'शंकिता' कहा जाता है। यह शंका-भाव प्रकट करती है।

विषादिनी—विषाद से फैली, कभी सिकुड़ी, कभी-कभी निमेषवाली और कुछ स्तब्ध तारों वाली दृष्टि का नाम 'विषादिनी' है।

मुकुला—पलकें काँपें और मिलें न, ऊपर की ओर देखते समय कुछ संकुचित हो जायँ, आँखों के तारे इच्छानुसार उन्मीलित हों। ऐसी दृष्टि को 'मुकुला' कहा जाता है और यह निद्रा, स्वप्न और सुख का भाव प्रकट करती है।

कुंचिता—पलकें जरा झुकी हों और तारे भी; पूरी आँख सिकुड़ी-सी हो तो 'कुंचिता' दृष्टि होती है और यह असूया, अनिष्ट और आँख की पीड़ा प्रकट करती है।

अभितप्ता—तारों में चमक न हो, पलकें खुलें और बंद हों, संताप में नेत्र डूबे-से हों, व्यथा झलकती हो तो दृष्टि अभितप्ता होती है और यह निर्वेद, चोट और मनस्ताप का भाव प्रकट करती है।

जिह्म——इस दृष्टि में पलकें तनिक सिकुड़ी होती हैं, दृष्टि तनिक तिरछी होती है, भाव स्पष्ट नहीं होता, तारे छिपे-से रहते हैं । यह असूया, जड़ता और आलस्य का भाव प्रकट करती है ।

सस्मिता——जिसमें मधुरता हो, सिकोड़ हो और भ्रू-क्षेप भी हो, वह दृष्टि सस्मिता होती है और यह हर्ष का भाव प्रकट करती है ।

ललिता——सस्मिता दृष्टि में काम-विकार भी हो तो उसे ललिता कहते हैं । यह धृति-भाव प्रकट करती है ।

वितर्किता——खिले तारों वाली, अधिकतर नीचे की ओर देखने वाली और चंचल दृष्टि को वितर्किता कहते हैं । यह तर्क का भाव प्रकट करती है ।

अर्धमुकुला——आनन्द के कारण दृष्टि आधी खुली, आधी बंद हो; तारे भी अधखिले हों तो दृष्टि अर्धमुकुला कहलाती है और यह आह्लाद, गंध, स्पर्श, सुख आदि का भाव प्रकट करती है ।

विभ्रांता——तारे विभ्रांत हों, पलकें भी चंचल हों, बीच में खिली-सी हो तो दृष्टि विभ्रान्ता कहलाती है और यह आवेग (घबराहट), संभ्रम (आदर विशेष का आयोजन) और विभ्रम भाव दर्शाती है ।

विलुप्ता——पलकें फड़कती हों, कभी स्तब्ध हो जायँ, कभी झपकें । तारों में घबराहट हो तो दृष्टि विलुप्ता कहलाती है । यह अपलाप, उन्माद आदि का भाव प्रकट करती है ।

[चित्र में समूहीकरण दुरुस्त है किन्तु प्रत्याकर्षण तत्त्व के अभाव एवं अभिनय में असामञ्जस्य के कारण दृश्य दोषपूर्ण हो गया है । दाहिने भाग के अंतिम तीन पात्रों की उदासीन मुद्रा रसभंग करती हैं, क्योंकि वृक्षारोपण की क्रिया से उत्पन्न होनेवाले उल्लास अथवा कौतूहल से उसका सामञ्जस्य नहीं है ।]

आकेकरा—पलकें जरा सिकुड़ी हों, कभी स्तब्ध हो जायँ, कभी झपकें। तारों में घबराहट हो। ऐसी दृष्टि कठिनता से और वियोग के समय देखने का भाव प्रकट करती हैं।

विकोशा—दोनों पलकें खुली हों, दृष्टि उत्फुल्ल हो, पलकें न पड़ें, तारे एक ही जगह न रहें। यह विबोध, अमर्ष, उग्रता और मति प्रकट करती है।

त्रस्ता—त्रास से चंचल, त्रास से कंपित तारों वाली, त्रास से बीच में फैली दृष्टि त्रस्ता होती है और यह त्रास प्रकट करती है।

मदिरा—बीच में मदहोश, अंत की ओर क्षीण-सी और विकसित दृष्टि को मदिरा कहते हैं। यह बात तेज नशे में होती है। मध्यम नशे में यह दृष्टि जरा संकुचित, जरा चंचल तारों वाली और चंचल पलकों वाली होती है। कम नशे में दृष्टि नीचे की ओर अधिक गतिशील होती है और यह मद प्रकट करती है।

केवल नेत्राभिनय का उपर्युक्त विवरण ही यह स्पष्ट कर देता है कि 'अभिनय' की महत्ता क्या हो सकती है। हस्त-मुद्राभिनय का भी क्रम ऐसा ही होता है। यह मुख्यतः नृत्य से सम्बद्ध है, अतः यहाँ इसका उल्लेख न करके विभिन्न शारीरिक हरकतों के विभिन्न भावों का उल्लेख किया जा रहा है।

एलेक्जेण्डरडीन के कथनानुसार रंगमंच पर शारीरिक हरकत के निश्चित गुण होते हैं। आमतौर से इसके दो भाग हैं—(१) दुर्बल और (२) पुष्ट। दुर्बलता उस शारीरिक हरकत से प्रकट होती है जिसमें दृढ़ता कहीं परिलक्षित नहीं होती। यथा—झुक कर चलना, पीछे के पैर पर शरीर का बोझ डालना, कदम पीछे हटाना और किसी वस्तु को देख कर किनारा काटना, आदि-आदि। विपरीत दशा में दृढ़ता दृष्टिगत होती है, यथा—तन कर चलना, चलते समय बोझ अगले पैर पर डालना, संकट के समय कदम आगे बढ़ाना, आदि। यह स्वतः कुछ नहीं है। वास्तव में यह भार-नियंत्रण का क्रम है। नियंत्रण की क्षमता अभ्यास से उत्पन्न होती है। यह क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में होती है किन्तु कोई उससे अनुकूल दशा में प्रभावित होता है और कोई प्रतिकूल दशा में। जो लक्ष्य को समझ कर उसकी उपलब्धि के लिए अभ्यास करता है, वह इच्छानुसार एक-एक अंग को तोड़-मरोड़ सकता है; किन्तु जो साधारण-जीवन में चलते-फिरते और उठते-बैठते के समय अनायास किसी तरह की हरकत करता रहता है, वह उसमें अभ्यस्त हो जाता है, किन्तु उसकी अच्छाई-बुराई

स अवगत नहीं होता। अभिनेता बनने को इच्छुक व्यक्ति इस तरह की आदत का शिकार बनने पर काफी कष्ट पाता है।

श्री हेमिंग नेम्स के शब्दों में "अंग-विन्यास मूलतः भार-नियंत्रण से सम्बद्ध है।" यह सही भी है। अधिक वजन उठाते समय इसका अनुभव हो जायगा, क्योंकि ऐसी दशा में शरीर की रगों पर तनाव पड़ता है और शरीर असंतुलित हो जाता है। मुग्दर की जोड़ी का केवल एक खंड एक हाथ से उठानेवाला व्यक्ति एक ओर तनेगा, झुकेगा, लपेगा। दोनों समान वजन के मुग्दर एक साथ उठाने पर शरीर का संतुलन बना रहता है। इस तरह का संतुलन चेतनारहित नहीं किंतु चेतनावस्था में रहता है। संतुलन और असंतुलन की विभिन्न दशाओं का ज्ञान और मांसपेशियों पर नियंत्रण इच्छानुसार अभिनय प्रस्तुत करने में सहायक होता है। जानने योग्य मोटी बात यह है कि संतुलन, दृढ़ता का और असंतुलन दुर्बलता का परिचायक होता है। अभिनय के क्षेत्र में संतुलन का अर्थ दबाव के प्रतिरोध की क्षमता समझना चाहिये। विपरीत दशा में अर्थ भी उलटा होगा। इसका एक अच्छा उदाहरण श्री एलेक्जेण्डर डीन ने अपनी पुस्तक—'फंडामेंट्ल्स ऑव प्ले डाइरेक्टिंग' में दिया है और लिखा है कि अभिनय प्रस्तुत करना हो बैठने (दुर्बल अवस्था) का किंतु दशा व्यक्त करनी हो दृढ़ता की, तो बैठते समय अभिनेता दुर्बल अवस्था में होगा; किंतु बैठ कर ज्यों ही वह तन जायगा, त्यों ही वह दृढ़ दिखाई देने लगेगा।

शारीरिक हरकत भी वास्तव में रेखाओं की दशा के सिद्धांत पर आधारित होती है। कौन-सी रेखा कैसा भाव प्रकट करती है, यह 'समूहीकरण'—शीर्षक के अन्तर्गत बताया गया है। अभिनय को भी समूहीकरण मानना चाहिये। विभिन्न प्रकार की शारीरिक हरकतों के समय विभिन्न अंगों की दशा प्रकट करनेवाली रेखाओं का रूप भी भिन्न होगा। जिस रेखा की प्रधानता ऐसी दशा में दिखाई देगी, अभिनय भी उस रेखा के भाव के अनुकूल भाव दर्शानेवाला होगा।

रंगमंच पर शारीरिक हरकत का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए श्री एलेक्जेण्डर डीन ने बताया है कि यदि कोई अभिनेता रंगमंच के पृष्ठ भाग से अग्रिम मध्य भाग पर आ कर बैठ जाता है तो वह दुर्बलता प्रकट करनेवाली हरकत दर्शाता है—यदि बैठने के बाद भी वह दृढ़ता प्रकट करनेवाली हरकत न करे। इस प्रकार ही यदि रंगमंच के सर्वाधिक सबल मध्य अग्रिम भाग से मध्य पृष्ठ भाग पर जानेवाला अभिनेता

पृष्ठ भाग पर पहुँचने के बाद सामने की ओर घूम कर खड़ा हो जायगा और तब रंगमंच से बाहर जायगा, तो उसका अभिनय पर्याप्त सबल होगा। वास्तव में रंगमंच से बाहर जाने का सबसे अधिक प्रभावशाली अभिनय पृष्ठ भाग के फ्लाट में लगे दरवाजे से उपर्युक्त प्रकार से बाहर निकल कर ही प्रस्तुत किया जा सकता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि रंगमंच के भाग विशेष की सबलता ही अभिनेता को सबल नहीं बना सकती, अभिनेता का अभिनय भी सबलता प्रकट करने वाला होना चाहिये। अभिनेता के अभिनय की सबलता की दृष्टि से भी यही बात और जोर दे कर कही जा सकती है। सबल अभिनय करने के साथ-साथ वह रंगमंच के उपयुक्त भाग का उपयोग भी करे तो और भी सबल हो जायगा। तभी उस का अभिनय सार्थक होगा। इसके साथ ही अभिनय की दृष्टि से यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि रंगमंच के दुर्बल भाग पर खड़ा अभिनेता, दृश्य के निर्णायक अवसर पर यदि अपने स्थान से चल कर रंगमंच के सबल भाग पर पहुँच जाता है, तो उस का अभिनय निरंतर रंगमंच के सबल भाग पर रह कर किये जानेवाले अभिनय की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक और सबल होगा। इसका कारण यह है कि किसी एक ही अभिनेता को, जिसको दो-चार वाक्य ही बोलने हैं, आकर्षण का केन्द्र बनाये रखने की भी सीमा होती है। इसका अतिक्रमण होने पर सारा दृश्य चौपट हो जाता है। यही कारण है कि रंगमंच पर घूमना-फिरना, आगे-पीछे जाना-आना भी अभिनय का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। जो निर्देशक इस पर ध्यान नहीं रखता, वह अच्छे से अच्छे अभिनेता का प्रयास भी चौपट कर सकता है। जानकार अभिनेता से इस मामले में निर्देशक की झड़प भी हो जाती है। ऐसी दशा में निर्देशक को अपने अधिकार का दावा करने के बजाय अभिनेता की भावना को समझने की चेष्टा करनी चाहिये।

निर्देशक और उसके साथ-साथ अभिनेता को भी यह जानना ही चाहिये कि फुट-लाइट से गहराई में सीधे आवागमन अथवा फुट-लाइट के समानान्तर आवागमन से अधिक प्रभावोत्पादक और सबल तिरछा आवागमन होता है।

अभिनय की दृष्टि से इस आधारभूत जानकारी का समुचित लाभ तभी उठाया जा सकता है जब संवाद, दृश्य पर उसके प्रभाव और दृश्यात्मक प्रभाव की गतिशीलता पर ध्यान रखते हुए उसका उपयोग किया जाय। अभिनय स्वतः कुछ नहीं है। वह भाव को प्रकट करने का माध्यम मात्र है। भाव को उत्तेजित करने वाला

तत्त्व संवाद में निहित होता है, अतः अभिनय को संवाद और उससे उत्पन्न आवश्यकता का अंग मानना चाहिये ।

संवाद जड़ नहीं होता है । उसमें गति होती है । यह गति आवाज के उतार-चढ़ाव और अभिनय के माध्यम से प्रकट होती है । इन दोनों में कौन प्रमुख है, यह कह सकना कठिन है । सामान्यतः दोनों को एक-दूसरे का पूरक समझना चाहिये। दोनों के इस गुण का तत्त्व निहित होता है––सामञ्जस्य में। यदि आवेशपूर्ण संवाद कहते समय अभिनेता का शरीर ढीला-ढाला रह जाता है, तो अभिनय के बावजूद संवाद की गतिशीलता बनी नहीं रहती और अभिनय इसकी गतिशीलता की अभिव्यक्ति का माध्यम न रह कर गत्यवरोधक हो जाता है । यह अभिनय की सार्थकता नहीं है । सार्थक वह तब होता है, जब वह संवाद में प्रकट होनेवाला आवेश मूर्त कर देता है और दर्शक न केवल संवाद सुन कर बल्कि हाव-भाव देख कर भी अनुभव करता है कि संवाद कहनेवाला अभिनेता आवेश में नहीं है––उस का क्रिया-कलाप परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम है । यहीं नाटक की गति, संवाद, अभिनय, आदि सब घुल-मिल कर एक हो जाते हैं ।

सबल शारीरिक हरकत की आवश्यकता संवाद की दृष्टि से कब हो सकती है, यह निश्चित करना कठिन नहीं है। संवाद का जो स्थल निश्चयात्मक हो अर्थात् निश्चित इरादा प्रकट करता हो, निर्देशात्मक हो, निर्णयात्मक और आदेशात्मक हो, वहाँ अभिनय से यह स्पष्ट होना ही चाहिये कि निर्णय करने अथवा आदेश देने वाला शक्तिमान् पात्र है––शक्ति भौतिक भी हो सकती है और आत्मिक भी।

इसी प्रकार जहाँ दीनता, असहायावस्था, विवशता-जन्य क्षोभ आदि शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहा हो, वहाँ अभिनय से भी उसका सामञ्जस्य होना चाहिये । संवाद से परस्पर-विरोधी दोनों भाव प्रकट होते हों, तो अभिनय भी दोनों प्रकार का (उपयुक्त स्थान पर) होना चाहिये । इस पर दृष्टि रखना निर्देशक का काम है। किसी भी नाटक के एक-एक संवाद का अध्ययन कर के, उसके अनुरूप अभिनय का रूप पहले से ही निर्धारित न करनेवाला निर्देशक अभिनेता को उचित ढंग से प्रशिक्षित नहीं कर सकता । अभिनेता और निर्देशक दोनों की दृष्टि से अभिनय की दुरूहता स्पष्ट हो जाती है । यहीं रंगमंच पर भरी उन समानान्तर रेखाओं का

महत्त्व भी स्पष्ट हो जाता है जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अभिनय-कौशल से इनका गहरा सम्बन्ध होता है। दृश्य-रचना के लिए ये समूहीकरण की दृष्टि से जितनी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, अभिनय की दृष्टि से उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

यह तो हुई बात संवाद के अनुरूप अभिनय की। किंतु यदि आवेश से पूर्ण संवाद लम्बा हो, तो अभिनेता संवाद समाप्त न होने तक निरंतर हाथ-पैर नहीं फटकारता रह सकता; क्योंकि एक-सी गति बनाये रखने पर अभिनय दोषपूर्ण ही नहीं होगा, वह अपना आकर्षण भी खो बैठेगा। अतः अभिनय में स्थान-स्थान पर अवरोध होना चाहिये। यह अवरोध कार्य-व्यापार के समय, संवाद के सामान्य अंश के समय, संवाद के उतार के समय अथवा ऐसे ही अन्य स्वाभाविक व्यतिक्रम के समय होना चाहिये, ताकि दर्शक को भी कल्पना करने का अवसर मिले। इस तरह का अवरोध भी मूलतः अभिनय का ही अंग होता है।

अभिनय कब और किस दशा में, किस रूप में अपेक्षित होता है, यह जानने के बाद भी अभिनय प्रस्तुत करने के ढंग की समस्या हल नहीं होती। इससे सम्बद्ध मोटी बात का उल्लेख भार-नियंत्रण की ओर ध्यान आकृष्ट करा कर किया जा चुका है। अन्य बातों को जानने के लिए यह समझना चाहिये कि अभिनय की दृष्टि से शरीर तीन भागों में विभक्त होता है: (१) सिर से गरदन तक, (२) छाती से कूल्हे तक, और (३) कूल्हे से पैर तक। सिर से गरदन तक के हिस्से में नेत्र मुख्य होते हैं। यह विस्तार से बताया जा चुका है कि किस तरह का नेत्राभिनय कौन-सा भाव प्रकट करता है। अतः यहाँ इतना ही दोहराना पर्याप्त होगा कि नेत्राभिनय की क्षमता विभिन्न रूपों को याद करके नहीं बल्कि अभ्यास द्वारा ही उपलब्ध की जा सकती है। शेष दोनों भागों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। इसके कुछ साधारण नियम भी हैं। उदाहरणार्थ रंगमंच पर चलने-फिरने की क्रिया को लिया जा सकता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि एक ओर से दूसरी ओर सीध में जाते समय पहले रंगमंच के पृष्ठ-भाग की ओर का पैर आगे बढ़ाना उपयुक्त होता है—ताकि दृष्टि-रेखा में बाधा पहुँचने से पूर्व दर्शक यह जान जाय कि अभिनेता ने चलना आरम्भ कर दिया है। इसी तरह किसी भी ओर घूमते समय पहला कदम उस ओर पड़ना चाहिये जिधर घूमना अभीष्ट हो। यह ध्यान में रखना होगा कि ऐसी दशा में एक टाँग दूसरी टाँग पर न चढ़े।

मुखाकृति द्वारा भाव प्रकट करना एक बात है और गरदन को इधर-उधर घुमा कर अभिनय करना दूसरी बात। दो पात्र अपने-अपने मुख का तीन-चौथाई भाग दर्शकों की ओर कर के खड़े हों तो वह बिलकुल साधारण अवस्था में दृष्टिगत होंगे। सामान्यतः नाट्यारम्भ के समय पात्र इस मुद्रा में ही सामने आते हैं। बिलकुल साधारण बातचीत की दशा में दो पात्रों को उपर्युक्त तरीके से खड़े होना चाहिये। इससे बोध होता है कि दो व्यक्तियों के बीच वार्ता हो रही है। द्वंद्व की दशा में इस दृष्टि से अभिनय का रूप बिलकुल बदल जायगा और तब पात्र के मुख का बगली भाग (एक ओर का दर्शकों के सामने होगा) यह प्रकट करेगा कि एक-दूसरे के सामने खड़े पात्रों में से एक पक्ष दूसरे से रहस्य की कोई बात जान लेना चाहता है, अथवा दोनों पक्षों में खिंचाव पैदा हो गया है और एक पक्ष दूसरे पर हावी हो जाना चाहता है। सिर से गरदन तक के एक चौथाई भाग को सामने उस दशा में रखना चाहिये जब समरसता में व्यतिक्रम अभीष्ट हो अथवा रंगमंच के अग्रिम भाग पर खड़े पात्र की ओर से दर्शकों का ध्यान अन्य किसी पार्श्व भाग पर पीछे खड़े अभिनेता की ओर ले जाना अभीष्ट हो। यह काम कठिन नहीं है किन्तु समय पर इसका निर्वाह कठिन होता है क्योंकि रंगमंच पर उपस्थित पात्रों को इस स्थिति के लिए स्वयं को तैयार रखना पड़ता है अर्थात् एक पात्र को अपने अभिनय के साथ-साथ दूसरे पात्र के अभिनय के उस स्थल को भी याद रखना पड़ता है जब अपनी ओर से दर्शकों का ध्यान दूसरे पात्र की ओर घुमाना दृश्यात्मक आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक हो।

ये कुछ उदाहरण हैं। ऐसे अनन्त उदाहरण हो सकते हैं, अतः महत्त्व इनका नहीं, आधारभूत बातों का है, जिनकी बुनियाद पर अभिनय की इमारत खड़ी होती है।

संवाद-प्रेषण की शैली का अपना महत्त्व हो सकता है लेकिन व्यापक रूप में उसको भी अभिनय का ही एक अंग मानना चाहिये। मूक-अभिनय की दशा में अभिनेता केवल अभिनय के बल पर वांछित वातावरण उत्पन्न कर सकता है; किंतु कथोपकथन में भाग लेना अनिवार्य होने पर केवल अभिनय के बल पर आवश्यकता की पूर्ति सम्भव नहीं है।

इस दृष्टि से नाटक दो भागों में विभक्त माने जाते हैं, 'संगीत-नृत्य नाट्य' और 'गद्यात्मक संवाद-बहुल नाटक'। संगीत-नृत्य नाट्य निश्चित रूप स मूक-

अभिनय-प्रधान होता है; किंतु गद्यात्मक संवाद-बहुल नाटक (इस समय अव्यवसायी नाट्य क्षेत्र में जिसका प्रचलन बहुत अधिक है) कथोपकथन पर ही आधारित होता है। ऐसे नाटक में अभिनय करनेवाले अभिनेता में संवाद कहने का गुण होना ही चाहिये, अन्यथा जिस प्रकार संवाद के अनुकूल शारीरिक हलचल न होने पर उसकी विशेषता नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार संवाद कहने की शैली के प्रभावोत्पादक न होने पर अच्छा अभिनय भी नष्ट हो जाता है; क्योंकि जहाँ श्रव्य और दृश्य दोनों हों, वहाँ श्रव्य स्वतः भी दृश्य को प्रभावित करता प्रतीत होता है।

अस्तु, संवाद कहने की शैली का अभिनय से क्या सम्बन्ध है, इस पर विवाद की आवश्यकता नहीं है। इसको अभिनय से सर्वथा भिन्न मान भी लिया जाय तो भी यह तो जानना ही चाहिये कि अच्छी संवाद-शैली के गुण क्या हैं और किस प्रकार वह प्रभावोत्पादक हो सकती है।

अव्यवसायी संस्थाएँ संवाद कहने की यथार्थवादी शैली के व्यामोह में फँसती जा रही हैं। 'व्यामोह' शब्द का उपयोग उस भ्रम को प्रकट करने के लिए किया गया है जो यथार्थवाद को लेकर व्याप्त है। यह कहा जाता है कि रंगमंच पर भी बातचीत के समय, उस प्रकार ही बातचीत करनी चाहिये जैसे व्यक्ति साधारण जीवन में करता है। इसमें कृत्रिमता का प्रवेश नहीं होने देना चाहिये, अन्यथा अभिनय अस्वाभाविक होगा। यह नितांत भ्रमपूर्ण धारणा है। इस पर विश्वास करने वाले के सम्बन्ध में यह कहना ही होगा कि वह नाटक की आवश्यकताओं से अवगत नहीं है और यह नहीं जानता कि साधारण व्यक्ति और अभिनेताओं में अंतर होता है। रंगमंच और घर की बैठक का दर्जा एक-सा नहीं हो सकता। साधारण व्यक्ति गँवार भी हो सकता है लेकिन अभिनेता प्रशिक्षित होता है, अतः भावाभिव्यञ्जना की दृष्टि से दोनों में अंतर को स्वीकार न करना उस कृत्रिमता का ही वरण करना है, जिससे पृथक् रहने की सलाह दी जाती है।

अध्ययन करने पर ज्ञात हो जायगा कि साधारण जीवन में बातचीत का जो ढंग नजर आता है, वह नाटकीय तत्त्वों से रिक्त रहता है। उसमें न तो व्यक्ति की भावनाएँ मूर्त होती हैं, न अधिकार जतानेवाला दृश्यात्मक प्रभाव विकीर्ण होता है; न तो शब्दों के उच्चारण का महत्त्व होता है, न उनसे प्रस्फुटित होनेवाली ध्वनि का,

न तो उसमें विचार-शृङ्खला को महत्त्व प्राप्त होता है, न ध्वन्यात्मक समन्वय को। यदि नाटकके पात्र की संवाद-शैली में भी यह दुर्गुण रहेंगे, तो अच्छे से अच्छे रंगमंच पर भी नाटकीय प्रभाव का अभाव बना रहेगा। जिस प्रकार रंगमंच पर उठने-बैठने और चलने-फिरने का विधान है, उसी प्रकार संवाद कहने का भी विधान है। रंगमंच पर कोई पात्र दीवार पर टँगी तलवार या बन्दूक को उठाता है, तब इस रूप में उठाता है कि दर्शक कथानक-क्रम में तलवार या बन्दूक उठाने की तात्कालिक मंशा से अवगत हो जाय। इसी प्रकार संवाद कहने की शैली में भी कथानक-क्रम का बोध कराने की क्षमता होनी ही चाहिए और दर्शक को यह ज्ञात होना चाहिए कि अभिनेता अपने कथन के किस अंश पर जोर देता है; क्योंकि इसके अभाव में अभिनेता का भाव समझने में भ्रम हो सकता है। ऐसा भ्रम, मुखाकृति, नेत्राभिनय अथवा अंग-विन्यास के कारण उत्पन्न उपयुक्त भाव को, जो दर्शकों को ठीक नजर आता है, नष्ट कर देता है। जिस प्रकार बेडौल आकृति अरुचिकर होती है, विभिन्न अंगों के माध्यम से प्रकट किया जानेवाल भाव, जब वाणी से प्रकट किये जाने वाले भाव से मेल नहीं खाता तब वह भी उसी प्रकार अरुचिकर होता है। ऐसा अरुचिकर रूप साधारण जीवन में बात-चीत के ढंग में नज़र आ सकता है, अतः यह कहने की आवश्गकता नहीं रह जाती कि रंगमंच पर संवाद कहने की शैली से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

रंगमंच पर संवाद कहने की शैली का गुण यही है कि बोलनेवाले की आवाज साफ हो, उसमें लहरों-सा उतार-चढ़ाव हो, आवश्यकतानुसार तिक्तता और मधुरता हो, दृढ़ता और लोच हो; सुननेवाले को वह प्रभावपूर्ण और आकर्षक प्रतीत हो और दर्शक शब्दार्थ से परिचित न होते हुए भी केवल ध्वनि के बल पर यह समझ जाय कि बोलनेवाले अभिनेता की मनःस्थिति कैसी है और कैसी भावनाएँ उसके विचारों को आन्दोलित कर रही हैं।

जिस प्रकार अभिनय के लिए इच्छानुसार शरीर के विभिन्न अंगों से काम लेने की दृष्टि से अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार संवाद कहने के लिए वाणी का अभ्यास आवश्यक है। अभ्यास के बिना आवाज पर नियंत्रण रखने की क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकती। नियंत्रण रखने का अभ्यास होने पर ही शब्दों के माध्यम से आंतरिक भावनाओं और विचारों को प्रकट करना सम्भव हो सकता है।

अभ्यास कैसे किया जाय ? यह विशद विषय है। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इसके लिए श्वास रोकने, शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने, आरोह-अवरोह की गति उत्पन्न करने और आवश्यकतानुसार आवाज को बढ़ा सकने का अभ्यास करना चाहिये। श्वास-गति पर नियंत्रण का अभ्यास बहुत जरूरी है; क्योंकि लम्बे-लम्बे जोश भरे संवाद, प्रवाह-युक्त ढंग से कहते समय फेफड़े पर जोर पड़ता है और जिस अभिनेता में श्वास की गति को दबाये रखकर संवाद-प्रवाह को कायम रखने की क्षमता नहीं होती, वह संवाद कहते-कहते, बीच में ऐसे स्थल पर साँस लेने के लिए रुक जाता है, जहाँ उसको रुकना नहीं चाहिए। इससे संवाद का प्रवाह शिथिल हो कर अपना प्रभाव खो बैठता है। इससे दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होती है। प्रवाहयुक्त संवाद को सुनते समय दर्शकों का मन भी संवाद में प्रकट किये जानेवाले विचारों के पीछे-पीछे तेजी से दौड़ने लगता है। ऐसी दशा में मंजिल से पहुँचने के पहले ही यदि उसको ठोकर लगती है तो रसभंग की विकृति उत्पन्न हो जाती है। अतः अभिनेता को लगातार कुछ समय तक जोरदार और प्रवाहयुक्त ढंग से बोलते रहने का अभ्यास कर के साँस फूलने का दोष दूर करना चाहिये।

संवाद का एक-एक शब्द, स्पष्टतः दर्शकों के कानों में पड़ना ही चाहिये, अतः संवाद बोलनेवाले के लिए आवश्यक है कि उसका उच्चारण सही और स्पष्ट हो; क्योंकि दर्शक तभी संवाद को सुन सकेंगे और तभी शब्दों की ध्वनि अपना अर्थ प्रकट कर सकेगी। स्पष्ट उच्चारण के लिए यह आवश्यक है कि नाक से बोलने की आदत, बात-बात पर झुँझला उठने की आदत और कर्कश बोलनेकी आदत से छुटकारा पाने का अभ्यास किया जाय। कंठ को साफ रखनेवाला व्यायाम बहुत सहायक होता है, अतः जिसको अभिनेता बनने का शौक हो, उसको ऐसे व्यायाम का लेने का कष्ट उठाना ही चाहिये। मधुर और प्रभावपूर्ण आवाज में बड़ी क्षमता सहारा होती है। संगीत-सम्मेलनों में प्रायः यह देखा जाता है कि कई कलाकार संगीत कला में कच्चे होने के बावजूद केवल अपनी मधुर और दमदार आवाज के कारण सहज ही जम जाते हैं एवं श्रोताओं को अपनी ओर आकृष्ट रखने में सफल होते हैं।

संवाद-प्रेषण में आरोह-अवरोह का बड़ा महत्त्व होता है। एक-सा प्रवाह रहने पर समरसता का दोष तो उत्पन्न होता ही है, साथ ही संवाद में निहित

भाव भी अपेक्षित रूप में प्रकट नहीं होता। जिस प्रकार सपाट काले रंग में सफेद रंग का तोड़, काले रंग की महत्ता को प्रकट करता है, उसी प्रकार संवाद में उतार या चढ़ाव का तोड़ शब्दों में निहित भावना को प्रकट करता है। इस को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिए; क्योंकि दर्शक के साथ अभिनेता के भावात्मक सम्बन्ध की स्थापना का एकमात्र सूत्र यही है। इसका अभ्यास करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि वातावरण पर आवाज का प्रभाव कैसा होता है।

मुँह से निकलनेवाला प्रत्येक शब्द वातावरण से टकराता है। शब्दों की ध्वनि को वायु-लहरियाँ क्रमशः घटते हुए परिमाण में दूर ले जाती हैं। जब ये लहरियाँ दर्शक के कर्ण-रंध्रों से टकराती हैं, तब प्राकृतिक प्रक्रिया वायु-लहरियों को आवाज में बदल देती है और आवाज सम्भाषण के रूप में परिवर्तित हो जाती है। किसी तालाब में ढेला फेंकने के कारण उत्पन्न लहरियों को देखने के बाद उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा। ढेले की टक्कर से उठनेवाली लहरें जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे क्षीण होती जाती हैं। वातावरण पर शब्द के प्रभाव का क्रम भी यही है। इस उदाहरण को प्रस्तुत करने का उद्देश्य यह बताना है कि संवाद में उतार-चढ़ाव का अभ्यास करते समय इस बात पर बराबर ध्यान रखना चाहिए कि धीमे स्वर से कहे जानेवाले वाक्यांश के पीछे ताकत हो, वजन हो ताकि यह भी दर्शकों के कर्ण-रंध्रों तक स्पष्टतः पहुँच सके अन्यथा दर्शक के कान में आधा संवाद पड़ेगा, आधा नहीं पड़ेगा।

संवाद का कौन-सा अंश अथवा किस वाक्य का कौन-सा अंश उतार पर रहना चाहिए और कौन-सा चढ़ाव पर, यह निश्चित करना निर्देशक का काम है।

उपर्युक्त समस्त प्रक्रिया यही प्रकट करती है कि नेत्र, मुख, हाथ-पैर, आवाज, अर्थात् "अंग-अंग को अभिनय-कला का दास बनाया जा सकता है। यदि अभिनय की संतोषजनक योग्यता का दावा प्रमाणित करना हो, तो विभिन्न प्रकार के मॉडलों को देख कर और अभ्यास द्वारा अंगों को अभिनय-कला का दास बनाना होगा। जहाँ अच्छा अभिनेता देखा जा सकता हो, वहाँ उसको देखना चाहिए। उसके अभिनय को हृदयंगम करना चाहिए, नकल करने के लिए नहीं बल्कि दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट किये रहने के कौशल के उदाहरण के रूप में।"

लय-ताल

मनोहर प्राकृतिक दृश्य में भी काव्य होता है, संगीत होता है। प्रकृति को देख कर झूम उठनेवाले कवियों की गाथा से साहित्य भरा है। सुरम्य प्राकृतिक दृश्य में मधुर संगीत के स्वरों को आलोड़ित होते देखनेवाले साहित्यकारों और चित्रकारों की भी कमी नहीं है। यह अनुभूति क्या है ? क्यों सिनेमाघरों अथवा संगीत-सम्मेलनों में दर्शक या श्रोता किसी संगीत को सुन कर झूम उठते हैं, पैर अथवा हाथ से थाप देना आरम्भ कर देते हैं ? कोई यह तो कह नहीं सकता कि सिनेमाघर या संगीत-सम्मेलन में संगीत सुन कर झूम उठनेवाले सभी दर्शक अथवा श्रोता संगीत के जानकार अथवा मर्मज्ञ होते हैं। वस्तुस्थिति सर्वथा विपरीत ही होती है। ऐसे लोगों में अधिकतर वे लोग होते हैं जो संगीत के मर्मज्ञ तो क्या उसके साधारण जानकार भी नहीं होते। तब, इस प्रकार झूमने का रहस्य क्या है ? यह परिणाम होता है उस स्वाभाविक इच्छा का जो दृश्य या श्रव्य चित्र-समूह अथवा स्वरपात-समूह को देख कर भावात्मक और शारीरिक दृष्टि से उसके साथ संयोजित होने की कल्पना से उद्भूत होती है। इस कल्पना की उत्पत्ति उपर्युक्त समूह के आवर्त्तन में व्यवस्थित श्रव्य अथवा दृश्य-भावों के अनुक्रम की उपलब्धि से होती है। यही कहलाता है लय-ताल का बोध। अंतिम रूप में नाट्याभिनय की सफलता-विफलता इस पर ही आधारित होती है। यदि नाट्याभिनय में दर्शक को हृदय की धड़कन और श्वास की गति का बोध होता है, तो वह उसको जीवित या प्राणवान् या सजीव मानता है; अर्थात् जीवन को प्रभावित करने की उसकी सामर्थ्य को स्वीकार करता है और रसानुभूति की दृष्टि से उसकी आकर्षण-शक्ति के समक्ष नत होता है।

सौन्दर्य की क्षमता का यह स्वरूप ही साहित्य, कला और संगीत का प्राण है। यह मनुष्य को आत्मविभोर कर देता है। इसके कारण मनुष्य सुध-बुध खो बैठता है। क्यों ? क्या यह कोई आकस्मिक चमत्कार होता है ? उत्तर है--नहीं। दृश्य अथवा श्रव्य चित्र-समूह अथवा स्वरपात के आवर्तन में व्यवस्थित भावों के अनुक्रम के फलस्वरूप जिस अनुभव का उल्लेख पहले किया जा चुका है, वह भावों की तीव्रता पर ही अवलम्बित होता है। यह भावात्मक और शारीरिक प्रतिक्रिया के--सिनेमाघरों अथवा संगीत-सम्मेलनों में दर्शकों की दशा विशेष के प्रसंग में जिसकी

ओर ध्यान आकृष्ट किया जा चुका है--गुणात्मक रूप में अभिव्यक्त होता है और विशुद्ध आन्तरिक अनुभूति (आह्लाद) से शारीरिक हलचल (थाप देने की क्रिया) तक विस्तृत रहता है । आधारभूत रूप में यह प्रकृति की दो बुनियादी जीवन-प्रक्रियाओं-हृदय की धड़कन और श्वास-गति से सम्बद्ध होता है ।

नाटक और नाट्याभिनय में इसका महत्त्व सर्वोपरि माना गया है। निर्देशन बहुत अच्छा हो, समूहीकरण निर्दोष हो, रंगदीपन में त्रुटि न हो, दृश्य-विधान भी अनुपम हो तो भी नाटक गतिहीन, निस्पंद हो सकता है; उस में उस जीवन और प्राण का अभाव हो सकता है, जिसका अनुभव कर के दर्शक झूम उठते हैं । इससे प्रमाणित होता है कि सर्वोपरि महत्ता पृथक्-पृथक् रूप से विभिन्न अंगों के विकार-रहित होने की नहीं, बल्कि इनको मिला देने के पश्चात् नजर आनेवाली मूर्ति की होती है । अभिप्राय यह कि दृश्य, अभिनय, प्रकाश, रूपरंग, साज-सज्जा--यह सब मोतियों की सुन्दर माला के दानों की भी गुँथे रहने चाहिये अथवा विभिन्न फूलों को मिला कर तैयार किये जानेवाले गुलदस्ते की भाँति नजर आने चाहिएँ--ऐसे गुलदस्ते की भाँति जिसमें लगा प्रत्येक फूल अपनी जगह पर अपने स्वाभाविक रूप में बना रहता है किन्तु अनेक फूल मिल कर एक नये और संगीत स्वर-झंकारपूर्ण स्वरूप की रचना कर डालते हैं ।

वास्तव में यह कार्य बहुत कठिन होता है। इस को दुरुस्त रखने के लिए निर्देशक को एक-एक संवाद, अभिनय, अभिनय की गति, दृश्यात्मक प्रभाव, पृष्ठ संगीत-स्वर, नेपथ्य की हलचल आदि को एक में मिला कर सँजोना पड़ता है, तब नाटक गतिमान्, प्राणवान् प्रतीत होता है और उस का एक-एक दृश्य क्रमशः ऊपर उठता दृष्टिगत होता है ।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन मोटी-मोटी बातों पर ध्यान रखना चाहिये--हलचल वाले दृश्यों में चलने-फिरने की गति और संवाद की गति में सुमेल; ठीक समय पर नाटकीय प्रभाव (अर्थात् जिस समय पा कहे कि तूफान आया, उससे क्षण भर पहले ही तूफान का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो जाना चाहिये), रंगमंच की साज-सज्जा में प्रयुक्त उपकरणों के रंगों में सुमेल; इन उपकरणों के रंगों के सामूहिक प्रभाव और पात्रों के वस्त्रों के रंगों के सामूहिक प्रभाव में सुमेल (हारमोनी)

पात्रों के वस्त्रों के रंगों में सुमेल; रूप-विन्यास और पोशाक में सुमेल; संवाद के अनुकूल वातावरण और प्रकाश आभा में सुमेल, रंगमंच पर किसी पात्र के आगमन से पूर्व संवाद में रुकावट या तोड़, पात्र के गमन से पूर्व संवाद में रुकावट या वांछित तोड़; शोरगुल के दृश्य में शान्ति-स्थापन के तत्काल पश्चात् मुख्य संवाद सुनाना; पात्रों के समूहीकरण में भावानुकूल क्रमबद्धता (एक पात्र मार खा कर गिरा हो, दूसरा उसको बचाने की चेष्टा में बैठा हो और तीसरा आक्रामक के रूप में खड़ा हो तो दुर्बल और सबल की क्रमबद्ध अभिव्यक्ति स्पष्ट होगी); आदि ।

इस कार्य में सिद्धांत की अपेक्षा अभ्यास अधिक सहायक हो सकता है, अतः नाटक के पूर्वाभ्यास के समय ही नहीं, उससे पहले भी अभ्यास करते रहना चाहिए ।